स्वैच्छिक कार्य
और
गांधीवादी दृष्टि

तरुण भारती

स्वैच्छिक कार्य और गांधीवादी दृष्टि

(भारत के तीन स्वैच्छिक आंदोलनों का अध्ययन)

डी. के. ओझा

चित्र

शांतना राज

अनुवाद

नेमिशरण मित्तल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1176-X

पहला संस्करण 1995 (शक 1916)

Voluntary Action and Gandhian Approach *(Hindi)*

रु. 21.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

प्रस्तावना — *सात*

1 महात्मा गांधी का उदाहरण — 1

2 चिपको : हिमालय में संघर्ष — 17

3 आनंदवन और बाबा आम्टे — 36

4 सेवा : आत्मगरिमा के लिए नारी का संघर्ष — 52

5 उपसंहार — 68

प्रस्तावना

यह पुस्तक 1987-88 के दौरान देश के दुर्गम क्षेत्रों में मेरी यात्राओं तथा भारत के तीन स्वैच्छिक आंदोलनों के अध्ययन का परिणाम है। 'चिपको' आंदोलन मुझे हिमालय की ओर ले गया, जहां अब मैं हर वर्ष जाता हूं। यह मेरा व्यसन ही बन गया है। बाबा आम्टे के आंदोलन ने मुझे उनकी ओर खींचा तथा श्रेष्ठतम वन देखने का अवसर प्रदान किया। 'सेवा' आंदोलन मुझे चरम गरमी के दिनों में गुजरात के भीषण सूखाग्रस्त क्षेत्रों की ओर ले गया। अपनी इन यात्राओं में मैंने जो कुछ देखा-सुना वही सब इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। मेरी दृष्टि में मेरे ये अनुभव बहुमूल्य हैं, जो मुझे एक सरकारी अधिकारी के मेरे दैनिक जीवन से बाहर खींचकर एक भिन्न जगत में ले गये।

यह पुस्तक मूलतः भारत के उन तरुणों को संबोधित है, जिनके साहस और आदर्श की वृत्ति ही, भविष्य में मनुष्य और प्रकृति के प्रति किये जाने वाले अनिष्टकारी कार्यों के विरुद्ध इस प्रकार के अधिकाधिक स्वैच्छिक कार्यों की आशा का एकमात्र आधार है। हालांकि प्रस्तुत अध्ययन शोध पर आधारित है, फिर भी इसमें तकनीकी और कठिन शब्दावली के प्रयोग से बचा गया है। इस अध्ययन में सहायता प्रदान करने हेतु मुझे औपचारिक रूप से तमिलनाडु में मदुरै के समीप स्थित केंद्रीय विश्वविद्यालय 'गांधीग्राम रूरल इंस्टीट्यूट' के साथ संबद्ध किया गया था। उसके उपकुलपति श्री देवेन्द्र कुमार तथा ग्राम-विकास संकाय के डा. आर. सुब्रह्मण्यन ने शोध-प्रणाली के उपयोग के संबंध में मेरी सहायता की तथा मेरा मार्गदर्शन किया। इसके लिए मैं उन दोनों के साथ ही गांधीग्राम ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री पद्मनाभन का आभारी हूं।

श्री सुन्दरलाल बहुगुणा तथा श्री धूमसिंह नेगी ने मेरी बहुत सहायता की। चिपको आंदोलन के ही तीन अन्य कार्यकर्ता श्री मुरारीलाल, श्री अनुसूया प्रसाद तथा श्री चक्रधर तिवारी हिमालय के जिलों में भ्रमण के दौरान मेरे साथ रहे। बाबा आम्टे और उनके परिवार द्वारा दिया गया विपुल स्नेह और आतिथ्य अपने-आप में एक अविस्मरणीय अनुभूति बन गया है। श्रीमती इलाबेन भट्ट तथा उनकी समर्पित सहकर्मियों श्रीमती रेनाना झाबवाला, श्रीमती ललिता कृष्णास्वामी, श्रीमती उषा जुमानी और श्रीमती अनिला ढोलकिया आदि ने मेरी अत्यधिक सहायता की। गांधी शांति प्रतिष्ठान, दिल्ली के श्री अनुपम मिश्र, हिमालय सेवा संघ के श्री कृष्णमूर्ति गुप्ता, प्रतिष्ठित प्रकृतिविद् श्री एम. कृष्णन् तथा गुजरात विद्यापीठ

के प्रो. देवव्रत पाठक की भी मुझ पर अनुकंपा रही।

स्टेला मेरिस कालेज, मद्रास के प्रो. के.जी.राम ने इस पुस्तक की तैयारी में बहुमूल्य सहयोग दिया। मेरे मित्र कलाकार शांतना राज ने इस पुस्तक को चित्रित करके इसे जीवंत एवं आकर्षक बनाने में उत्कृष्ट योगदान दिया है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक कुछ तरुणों को, अपने आदर्शों की पूर्ति व कुछ ठोस कार्य करने की अपनी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए, स्वैच्छिक कार्य अपनाने की दिशा में अवश्य प्रोत्साहन दे पायेगी।

गांधीग्राम — **डी. के. ओझा**

अप्रैल 1991

*"**स्वराज** का अर्थ है सरकारी नियमों से स्वयं को मुक्त करते जाने का सतत प्रयास। इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि सरकार विदेशी है या हमारी अपनी। यदि **स्वराज** प्राप्ति के बाद देश की जनता अपने जीवन के प्रत्येक पक्ष के नियमन के लिए सरकार का मुंह जोहती रही तो **स्वराज** निरर्थक हो जायेगा।"*

—**महात्मा गांधी** ('यंग इंडिया' से उद्धृत)

1

महात्मा गांधी का उदाहरण

"मैंने अपने लिए जो जीवन-धर्म चुना है, वह उस परोपकारी योद्धा का जीवन-धर्म नहीं है जो लोगों को कठिन परिस्थितियों से छुटकारा दिलाने के लिए सर्वत्र घूमता रहता है। मैं लोगों के सामने ऐसे उदाहरण पेश करने का विनम्र प्रयास करता रहा हूं, जिनसे कि वे अपनी कठिनाइयां स्वयं हल करना जान सकें।"

—महात्मा गांधी

प्रस्तुत पुस्तक में देश के तीन ऐसे स्वयंसेवी आंदोलनों के अध्ययन का समावेश किया गया है जिन्होंने अल्प-सुविधाभोगी लोगों की जीवन-दशाओं को सुधारने की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की हैं। इनमें पहला 'चिपको' आंदोलन है। इस आंदोलन का यह नाम उस समय पड़ा जब हिमालय क्षेत्र के कुछ जिलों के लोगों ने, विशेषतया स्त्रियों ने, अपने क्षेत्र के समृद्ध वनों को काटने के लिए आये लोगों को चुनौती देने की दृष्टि से वृक्षों से चिपकने का मार्ग अपनाया। सन् 1971 में आरंभ हुए इस आंदोलन की मूल प्रेरणा इस धारणा में निहित थी कि प्रकृति, अर्थात् पेड़, जल, वायु और पर्यावरण को नष्ट तथा दूषित होने से बचाने के लिए लोगों को स्वयं संगठित होना चाहिए।

दूसरे आंदोलन का सूत्रपात महाराष्ट्र राज्य के उत्तर-पूर्वी भाग में बाबा आम्टे ने किया। यह आंदोलन लगभग तिरेपन वर्ष पहले कुष्ठरोग की डरावनी बीमारी से पीड़ित लोगों की मदद के लिए एक अभियान के तौर पर शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य उन लोगों का पुनर्वास करना तथा इस मिथ्या सामाजिक मान्यता को दूर करना था कि कुष्ठरोग एक घृणित रोग और कलंक है। यह आंदोलन अब कोढ़ की समस्या तक सीमित नहीं रहा है, इसने अनेक अन्य आयाम ग्रहण कर लिये हैं।

तीसरे आंदोलन का नाम 'स्वाश्रयी महिला सेवा संघ' (सेल्फ एम्प्लायड वीमेन्स एसोसिएशन) अथवा संक्षेप में 'सेवा' है। यह आंदोलन गुजरात राज्य के शहरों और गांवों में स्व-उद्यमी अर्थात् स्वतंत्र रोजगार करने वाली गरीब स्त्रियों को संगठित करने के कार्य

के प्रति समर्पित श्रीमती इला भट्ट ने छेड़ा था। यह आंदोलन अब भारत के अन्य भागों में भी फैल गया है तथा इसका उपयोग अनेक प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक विषयों को सुलझाने के लिए किया जाने लगा है।

इन तीनों आंदोलनों को सरकार तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की ओर से विभिन्न स्तरों पर समर्थन मिला है, तथापि मूल रूप में इन तीनों आंदोलनों का उदय जनता की स्वैच्छिक पहल से हुआ है। फिर भी, अल्प-सुविधाभोगी वर्ग के स्त्री-पुरुषों की स्वैच्छिक भागीदारी पर इन तीनों आंदोलनों की प्रबल आस्था और निर्भरता निरंतर बनी रही है। इन तीनों आंदोलनों के पीछे महात्मा गांधी की शिक्षाओं की प्रेरणा रही है, भले ही उसकी मात्रा में अंतर रहा हो। उनके जिस व्यक्तिगत दर्शन ने इन आंदोलनों को बल पहुंचाया उसे समझ पाने के लिए गांधीजी के विचारों को ही नहीं बल्कि उनके व्यक्तित्व के बारे में भी जानना आवश्यक है। गांधीजी के जीवन को उनके विचारों से अलग करके समझ पाना संभव नहीं है, क्योंकि उनका जीवन उनकी शिक्षाओं का दर्पण था। इसी दृष्टि से यहां गांधीजी का जीवनचरित्र इस प्रकार प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है जिससे उनके व्यक्तिगत गुणों और दर्शन को उनकी जीवन-गाथा में गूंथा जा सके।

महात्मा गांधी का जन्म सन् 1869 में गुजरात राज्य के काठियावाड़ क्षेत्र के एक छोटे से रजवाड़े की राजधानी पोरबंदर में एक मध्यवर्गीय धार्मिक परिवार में हुआ था। उनका नाम मोहनदास रखा गया था। वे स्कूल में बहुत अधिक प्रतिभाशाली छात्र नहीं रहे। किशोरावस्था में ही उनका विवाह कर दिया गया था और अपने विवाहित जीवन के प्रारंभिक चरण में दूसरे पुरुषों की भांति उन्होंने भी 'पति और स्वामी' की भूमिकाएं एक साथ निभाने की भरसक चेष्टा की। किशोरावस्था में उनसे चोरी तथा उससे भी कहीं अधिक निकृष्ट, मांसाहार जैसे अविवेकपूर्ण कर्म हुए। उनका परिवार जिस वैष्णव संस्कृति का अनुगामी था, उसमें मांसाहार को भयावह पाप माना जाता था। एक बार उन्होंने सत्य के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर राजा हरिश्चन्द्र के जीवन पर आधारित नाटक का मंचन देखा। गांधीजी के मानस पर इस नाटक ने एक अमिट छाप छोड़ी।

एक साधारण शैक्षणिक स्तर प्राप्त करने के बाद सन् 1888 में उन्हें कानून की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड भेजा गया। तब वे केवल 19 वर्ष के थे। उस जमाने में कानून की डिग्री को बहुत महत्व दिया जाता था। इंग्लैंड में अपने तीन वर्ष के प्रवास में उन्होंने शाकाहारी लोगों की बैठकों में भाग लेने तथा जीवन और उसके प्रयोजन के बारे में कुछ बुनियादी, तथापि अस्पष्ट चिंतन के अतिरिक्त कोई अन्य उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

तीन वर्ष इंग्लैंड में रहने के बाद वे कानून की डिग्री लेकर सन् 1891 में भारत लौटे तथा भारत में वकालत जमाने की कोशिश की। लेकिन वे शीघ्र ही समझ गये कि यहां उनकी सफलता की संभावनाएं बहुत कम थीं। इसी कारण जैसे ही उन्हें एक भारतीय

व्यावसायिक फर्म की ओर से एक महत्वपूर्ण कानूनी मामले में पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने का अप्रत्याशित निमंत्रण मिला तो उन्होंने उसे तत्काल स्वीकार कर लिया।

उस समय अनेक भारतीय दक्षिण अफ्रीका जाकर वहीं बस गये थे। उनमें विविध धर्मों के अनुयायी, हिंदू, मुसलमान और ईसाई, सम्मिलित थे। वे प्रमुख रूप से गुजराती, मुसलमान और दक्षिण-भारतीय थे। उनमें से अधिकतर लोग एक 'एग्रीमेंट' (समझौता) प्रणाली के अंतर्गत वर्षों से वहां रह रहे थे। भारतीय इस एग्रीमेंट को 'गिरमिट' कहते थे। यह प्रणाली बहुत कुछ दास प्रथा अथवा बंधुआ मजदूर प्रथा सरीखी थी। इसके अंतर्गत जिन मजदूरों ने दक्षिण अफ्रीका में गोरे मालिकों के उपजाऊ खेतों पर काम करने के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किये थे, उन्हें एक निश्चित समय तक वहां मजदूरी करने के लिए विवश किया जाता था। प्रायः इन मजदूरों के प्रति अनुचित तथा बर्बर व्यवहार किया जाता था। उन्हें बहुत ही अपमानसूचक ढंग से पुकारा जाता था। समझौते की अवधि समाप्त होने पर वे लोग वहां कोई भी काम करने को स्वतंत्र थे, परंतु जिस समाज में अश्वेत लोगों को गोरों से नीचा और केवल निचले स्तर के काम करने योग्य माना जाता हो, उस समाज में यह स्वतंत्रता निरर्थक थी।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार और प्रशासन पर गोरों का वर्चस्व था, अतः अश्वेत लोगों को रंगभेद की नीति का अनेक प्रकार से शिकार होना पड़ता था। इसी रंगभेद को अब 'पृथक्करण' की नीति कहा जाता है।

अश्वेत होने के कारण स्वयं गांधीजी को भी अनेक स्तब्ध कर देने वाले अनुभव हुए। उन्हें भेदभाव तथा अपमान का शिकार होना पड़ा और चोट भी खानी पड़ी। फिर भी, अपने इन निजी अनुभवों के कारण वे डरे नहीं। उनके मन में गोरों के प्रति न तो कटुता उत्पन्न हुई, न घृणा अथवा दुर्भावना ही, परंतु जब उन्होंने देखा कि अश्वेतों के प्रति सर्वत्र ऐसा ही भेदभाव पूर्ण व्यवहार हो रहा है तो न्याय और समानता के प्रति उनकी निष्ठा ने उन्हें इस प्रकार के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने के लिए विवश कर दिया। इस प्रकार, केवल छब्बीस वर्ष की आयु में, जब वे व्यावसायिक वकील बनने की कोशिश कर रहे थे, सहसा उनके भीतर दमन के शिकार लोगों को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता जाग उठी।

उन्होंने सन् 1895 में नेटाल इंडियन कांग्रेस का गठन किया। इसी समय वे एक भारतीय तमिल श्रमिक बालासुन्दरम के संपर्क में आये जो अपने उस गोरे मालिक के बर्बरतापूर्ण व्यवहार के शिकार हुए थे, जिसके साथ बालासुन्दरम ने काम का 'समझौता' किया था। गांधीजी ने बालासुन्दरम का मामला हाथ में ले लिया और इससे उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई। गांधीजी ने बालासुन्दरम के मुकदमे में कानूनी दृष्टि से ही नहीं वरन् इस आधार पर भी पैरवी की कि प्रत्येक मनुष्य को सम्मानपूर्ण व्यवहार प्राप्त करने का बुनियादी अधिकार है। असमानता और दमन के प्रति उन्हें गहरी अरुचि थी। यहां यह दिलचस्प

तथ्य उल्लेखनीय है कि वकील और मुवक्किल एक दूसरे के साथ सीधे बातचीत नहीं कर सकते थे क्योंकि गांधीजी को तमिल भाषा का ज्ञान न था और बालासुन्दरम को गुजराती और अंग्रेजी में से किसी भी भाषा का ज्ञान न था। वे केवल तमिल बोल सकते थे।

सन् 1896 में गांधीजी कुछ समय के लिए भारत लौटे और कुछ भारतीय नेताओं से मिले। भारत में रहते हुए उन्होंने समाचारपत्रों में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की दुर्दशा के बारे में विस्तार से लिखा। वे भारत में अधिक समय तक नहीं नहीं रुक पाये। दक्षिण अफ्रीका से आये तत्काल बुलावे के कारण उन्हें शीघ्र ही वहां जाना पड़ा। उस समय तक कुछ गोरे गांधीजी की गतिविधियों से बहुत अधिक चिढ़ने लगे थे। गांधीजी का जहाज जब डरबन बंदरगाह पर पहुंचा तो उनके दो अंग्रेज शुभचिंतकों ने उन्हें बताया कि कुछ गोरे उन पर आक्रमण करने के लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने गांधीजी को सलाह दी कि वे जहाज से उतरते समय अत्यंत सावधान रहें। गोरों की एक छोटी सी क्रुद्ध भीड़ ने गांधीजी को शीघ्र ही पहचान लिया। यह अप्रत्याशित न था। उन्हें एक साहसी गोरे मित्र के पास से, जो उनका साथ देना चाहता था, चतुराईपूर्वक खींच लिया गया। तब उनकी पिटाई की जाने लगी। तभी एक गोरी युवती ने अपनी जान का खतरा उठाकर उन्हें और अधिक पिटने से बचाया। वह युवती अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेंट की पत्नी श्रीमती अलेक्जेंडर थीं। अंततः गांधीजी की जान बच गयी। बाद में उनके कुछ गोरे मित्रों ने उन्हें सलाह दी कि वे आक्रमणकारियों के विरुद्ध मुकदमा दायर करके उन्हें दंड दिलवायें, परंतु क्षमाशील गांधीजी ने वैसा नहीं किया। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि दक्षिण अफ्रीका के अनेक गोरे निवासी न्याय और उचित व्यवहार के समर्थक थे। अपनी मान्यताओं के कारण वे भी गांधीजी के मित्र और प्रशंसक बन गये। उनमें से कुछ तो उनके घनिष्ठ सहयोगी बन गये। उन लोगों के लिए यह कोई सरल कार्य न था। भारतीयों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के कारण उन्हें अपने ही लोगों की घृणा का शिकार होना पड़ा। अपने जाति-बंधुओं की पक्षपातपूर्ण धारणाओं की अवहेलना करने तथा गोरों की तथाकथित श्रेष्ठतर संस्कृति के समक्ष पराये और हीन माने जाने वाले लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए उच्चकोटि के नैतिक साहस की आवश्यकता थी। गांधीजी के गोरे मित्रों ने इसी उच्चकोटि के साहस का परिचय दिया। गांधीजी का प्रथम जीवनचरित उनके एक गोरे मित्र और प्रशंसक रेवरेंड डॉक ने लिखा था। रेवरेंड डॉक ने एक बार गांधीजी केअस्वस्थ होने पर उन्हें अपने घर में रखकर पूरी तरह स्वस्थ होने तक उनकी देखभाल की थी।

गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले सभी भारतीयों के सर्वमान्य नेता के रूप में तेजी से उभर कर आये। गांधीजी ने धर्म अथवा भाषा के आधार पर लोगों के बीच जीवन भर कभी भेदभाव नहीं किया। उनके आजीवन मित्रों में से एक मि. कैलेनबेक यहूदी धर्म के अनुयायी तथा व्यवसाय के वास्तुकार थे। वे जीवन भर गांधीजी के मित्र रहे तथा

वर्षों बाद उनसे मिलने भारत भी आये थे। गांधीजी स्वयं एक निष्ठावान हिंदू थे तथापि वे सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। वकालत के क्षेत्र में भी वे सत्य पर अडिग रहे। वे अपने मुवक्किलों को सलाह देते थे कि झूठ का सहारा लेकर मुकदमा जीतने की अपेक्षा सत्य पर डटे रहकर हार जाना कहीं अच्छा है। गांधीजी जिन न्यायाधीशों की अदालतों में पेश होते थे वे सभी सत्य के प्रति उनकी निष्ठा तथा विपक्षियों के प्रति उनके सौजन्य से प्रभावित हो जाते थे।

गांधीजी की प्रबल कर्तव्य-भावना जीवन भर उनके कर्म का मार्गदर्शन करती रही। सन् 1899 में उन्होंने भारतीय चिकित्साकर्मी-स्वयंसेवकों के एक दल का नेतृत्व किया तथा दक्षिण अफ्रीका के एक स्थानीय युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता की। गांधीजी में इस प्रकार के कार्य के लिए आवश्यक साहस और नेतृत्व के गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे।

सन् 1901 में वे एक स्वयंसेवक के रूप में भारत आये और उन्होंने पश्चिमी भारत के राजकोट शहर में फैली प्लेग की महामारी के विरुद्ध अभियान छेड़ा। वे भारत में बहुत कम समय ठहरे, तथापि वे राष्ट्रीय आंदोलन की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया। उन्होंने समूचे भारत की यात्रा की। वे हमेशा रेल के तीसरे दर्जे में ही यात्रा करते थे।

सन् 1902 में वे दक्षिण अफ्रीका लौट गये और उन्होंने वहां के भारतीय समुदाय की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्रिका के संचालन में उनके सामने गंभीर कठिनाइयां आयीं, परंतु कठिनाइयों का सामना धैर्यपूर्वक करने के उनके स्वभाव ने पत्रिका के प्रकाशन में उनकी मदद की।

सन् 1904 में उन्होंने महान प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथ 'भगवद्गीता' का अध्ययन किया। उन्होंने ब्रिटिश दार्शनिक जॉन रस्किन द्वारा लिखित एक अन्य पुस्तक 'अन टू दिस लास्ट' का भी अध्ययन किया। यही वह पुस्तक थी जिसने उनकी इस धारणा को पुष्ट किया कि व्यक्ति का हित समष्टि के हित में निहित होता है। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में 'अन टू दिस लास्ट' तथा अपने ऊपर उसके व्यापक प्रभाव की विवेचना एक पूरे अध्याय में अलग से की है। यह पुस्तक पढ़ने के अगले दिन गांधीजी ने अपने ऊपर इस पुस्तक के प्रभाव के बारे में अपने घनिष्ठ अंग्रेज मित्र डा. वेस्ट के साथ चर्चा की। चर्चा मूल रूप से इस पहलू पर केंद्रित थी कि वे इस पुस्तक से ग्रहण किये गये आदर्शों को आचरण में किस प्रकार उतारें। इसके तुरंत बाद उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स नामक स्थान पर अपना पहला आश्रम स्थापित किया। आश्रम का अर्थ प्रायः साधुओं का निवास स्थान अथवा साधना-केंद्र लगाया जाता है। परंतु गांधीजी के लिए आश्रम का अर्थ था

सत्य की खोज में शामिल तथा कुछ निश्चित सामूहिक नैतिक सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने के लिए उद्यत व्यक्तियों के एक समूह द्वारा अपनायी गयी सामुदायिक जीवन-पद्धति। अपने फिनिक्स आश्रम में वे ऐसे भारतीय तथा कुछ गैर-भारतीय लोगों के साथ रहते थे जिनके मन में उनके सिद्धांतों के कारण उनके लिए आदर था तथा जो उनकी स्पष्टवादिता के कारण उन्हें स्नेह करते थे। इससे कुछ समय पूर्व भारत के राष्ट्रीय नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने दक्षिण अफ्रीका का दौरा किया था और गांधीजी ने उनका आतिथ्य किया था। गांधीजी ने गोखले को सार्वजनिक-कार्यकर्ता के आदर्श के रूप में ग्रहण किया तथा बाद में उन्होंने यह स्वीकार किया कि गोखले उनके राजनीतिक गुरू थे।

सन् 1906 में दक्षिण अफ्रीका के विद्रोह के दौरान उन्होंने दूसरी बार चिकित्साकर्मी-स्वयंसेवक के रूप में कार्य किया। इसी वर्ष 'सत्याग्रह' शब्द की रचना हुई जो आगे जाकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस शब्द तथा इसकी महत्ता के पीछे एक रोचक इतिहास है। इस शब्द का सामान्य अर्थ है 'सत्य का आग्रह रखना तथा उसका पालन करना।' फिर भी, व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ अन्याय और दमन का प्रतिरोध करना तथा ऐसा करते समय दमनकारी को दमन का मार्ग छोड़ने के लिए समझाना है। समझाने की यह प्रक्रिया प्रेम पर आधारित होनी चाहिए क्योंकि सत्याग्रह में दमनकारी के प्रति घृणा अथवा उससे भय का कोई स्थान नहीं है। अन्याय के विरुद्ध किया जाने वाला संघर्ष अहिंसक होना चाहिए तथा सत्याग्रह का अभ्यास करने वाले सत्याग्रही को अपने विरोधी को चोट पहुंचाने की चेष्टा तक किये बिना अपने प्राणों का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। गांधीजी ने इस दर्शन को आचरण में उतारकर एक उदाहरण प्रस्तुत किया। विश्व के लिए उनकी प्रमुख सीख थी : "अपनी पूरी शक्ति लगाकर दमन का विरोध करो, तथापि दमनकारी को प्रेम के बल पर जीतने की कोशिश करो। दमन के सामने कभी समर्पण मत करो, तथापि अपने मन में दमनकारी के प्रति घृणा को न पनपने दो। पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। सत्य का अनुसरण करो, भले ही वह तुम्हें कहीं भी ले जाये और यदि ऐसा करते समय तुम्हें अपना जीवन बलिदान करना पड़े तो निर्भय होकर उसे बलिदान कर दो।"

सन् 1907 में गांधीजी ने नस्ल के आधार पर किये जा रहे भेदभाव के विरुद्ध सत्याग्रह छेड़ दिया। बाद में अफ्रीकी सरकार के साथ उनका समझौता हो गया, लेकिन कुछ समय बाद उन्हें लगा कि सरकार ने उनके साथ धोखा किया है। अतः उन्होंने फिर से सत्याग्रह शुरू कर दिया और सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया। यही वह समय था जब गांधीजी ने महान रूसी विचारक लिओ तालस्ताय के साथ संपर्क किया। गांधीजी की दृष्टि में तालस्ताय प्रेम, सत्य और न्याय के उन्हीं मूल्यों और सिद्धांतों के प्रति समर्पित थे जिन्हें स्वयं गांधीजी अपने जीवन काल में चरितार्थ करने के लिए तत्पर थे। यही कारण था कि गांधीजी तालस्ताय के प्रति आत्मीयता अनुभव करते थे। सन् 1909 में गांधीजी

ने अपनी पहली पुस्तक 'हिंद स्वराज' की रचना की। उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए यह पुस्तक एक प्रकार से एक बुनियादी आधार प्रदान करती है। इसमें गांधीजी ने यह बताने की चेष्टा की है कि आधुनिक सभ्यता के कारण भारत में किस प्रकार गिरावट आयी है। बहुत से लोगों को यह आशा थी कि गांधीजी ने इस पुस्तक में जिन विचारों की अभिव्यक्ति की है उन्हें वे बाद में बदल डालेंगे, परंतु गांधीजी जीवन भर उन पर दृढ़तापूर्वक डटे रहे।

सन् 1910 में उन्होंने जोहांसबर्ग शहर की एक बाहरी बस्ती में अपना दूसरा आश्रम स्थापित किया व उसका नाम लिओ तालस्ताय के नाम पर पर रखा। सन् 1913 में उन्होंने फिर से सत्याग्रह किया और परिणामतया जेल भेज दिये गये। उनका यह सत्याग्रह सन् 1914 में सफल हुआ तथा दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों और वहां की सरकार के बीच एक सम्मानीय समझौता हो गया।

सन् 1914 में गांधीजी भारत लौट आये तथा फिर कभी वहां वापस नहीं जा पाये। उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण चरण इस प्रकार संपन्न हुआ। दक्षिण अफ्रीका में हुए उनके संघर्षों ने उनके व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को नये आयाम दिये जिनके आधार पर वे एक नेता, मानवतावादी, विचारक, सत्य-खोजी और इन सबसे कहीं ऊपर मानवजाति के सेवक के रूप में उभरे।

सन् 1914 में आरंभ होने वाले प्रथम विश्वयुद्ध के समय उन्होंने भारतवासियों को सेना में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित करके भारत में ब्रिटिश सरकार की सहायता की। उन्होंने इस दिशा में इतना कठोर परिश्रम किया कि वे बुरी तरह थककर अस्वस्थ हो गये। सन् 1915 में ब्रिटिश सरकार ने युद्ध प्रयासों में उनके सहयोग से प्रसन्न होकर उन्हें एक तमगा भेंट किया। भारतवासियों से ब्रिटिश सेना मे भर्ती होने की अपील करते समय उन्होंने सार्वजनिक तौर पर कहा कि भारतीयों को आमतौर पर शस्त्रों के उपयोग की अनुमति नहीं दी जाती, अतः उनके लिए यह एक उचित अवसर है जब वे सेना में भर्ती होकर शस्त्रों को चलाना सीख सकते हैं। गांधीजी के कुछ निकट मित्रों ने युद्ध प्रयासों में उनके सहयोग की आलोचना की परंतु गांधीजी ने अपने कार्य को उचित ठहराने का प्रयास किया।

इस काल में गांधीजी भारत की आत्मा के साथ एकाकार होने की चेष्टा कर रहे थे। सन् 1917 में राजकुमार नामक एक युवक ने उन्हें बताया कि तत्कालीन बिहार प्रांत (अब राज्य) के चंपारण जिले में कुछ अत्यंत निर्धन किसान असहनीय और अमानवीय दशाओं में जी रहे हैं। गोरे जमींदारों ने अपने बिहारी काश्तकारों पर यह अवैध शर्त लाद रखी थी कि उन्हें अपनी जमीन के एक भाग पर एक व्यापारिक फसल नील की खेती करनी होगी। उस फसल से केवल जमींदारों को ही भारी लाभ होता था। काश्तकार किसानों का इससे शोषण होता था। पहले तो गांधीजी ने इस शिकायत पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि ऐसा होना संभव ही नहीं है, किंतु अंततः वे इस शर्त पर चंपारण जाने

के लिए सहमत हो गये कि इस मामले में कोई भी कदम उठाने से पहले वे इसकी जांच-पड़ताल स्वयं करेंगे।

वे चंपारण गये और शीघ्र ही उन्हें यह पता चल गया कि काश्तकारों का शोषण सचमुच किया जा रहा था। जो काश्तकार जमींदारों की अनुचित मांग का विरोध करते उन्हें प्रायः कठोरतापूर्वक दबा दिया जाता था। गांधीजी के आगमन से प्रोत्साहित होकर जिले के तरुण राष्ट्रवादियों का एक छोटा-सा समूह गांधीजी के साथ जुट गया। वास्तविकता का पता लगाना गांधीजी के लिए सैद्धांतिक विषय था, अतः सबसे पहले उन्होंने इस मामले की गहराई से छानबीन करायी और अत्यंत सावधानी तथा परिश्रमपूर्वक ढेर सारे प्रमाण इकट्ठे कर लिये। उसके बाद उन्होंने निरीह काश्तकारों के शोषण के विरुद्ध सत्याग्रह का नेतृत्व किया। उस अग्निपरीक्षा में वे पूरी तरह विजयी रहे। भारत में उनका वह पहला सत्याग्रह था। इतना ही नहीं, वह सत्याग्रह उनके जीवन की एक अत्यंत निर्णायक घटना सिद्ध हुआ, जिसने उन्हे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक सर्वमान्य नेता बना दिया।

सन् 1918 में अहमदाबाद की कपडा मिलों के श्रमिकों ने एक औद्योगिक हडताल की जिसका नेतृत्व गांधीजी ने किया। कुछ समय बाद उन्होंने गुजरात के निकट एक जिले के किसानों के समर्थन में सत्याग्रह किया। यही वह समय था जब उन्होंने भारत की आम जनता को बेरोजगारी और भीषण दरिद्रता के अभिशाप से मुक्ति दिलाने वाले अस्त्र के रूप में चर्खे की क्षमता को खोज निकाला। उन्होंने देश की जनता से आग्रह किया कि वह अपने लिए स्वयं सूत काते और उसे बुनवाकर उसके वस्त्र पहने। यही कपड़ा खादी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने जीवन भर खादी और ग्रामोद्योगों की वकालत की। वे भारत को बुनियादी तौर पर गांवों का देश मानते थे। सन् 1919 में उन्होंने दो पत्रिकाओं 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' का प्रकाशन शुरू किया। उन्होंने पत्रकारिता के मानदंड बहुत ऊंचे बनाये रखे और इन पत्रिकाओ का उपयोग अपना संदेश देश की जनता तक पहुंचाने के लिए किया। आधुनिक भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को इन पत्रिकाओं के पुराने अंकों के अध्ययन से पर्याप्त लाभ होगा क्योंकि इनमें वे गांधीजी के विचारों का प्रामाणिक संकलन देख सकते हैं। ये पत्रिकाए उस जमाने की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर एक उच्चकोटि की टीका प्रस्तुत करती हैं।

सन् 1922 में गांधीजी ने एक अहिंसक आंदोलन शुरू किया। किंतु पुलिस के दुर्व्यवहार से जनता इतनी उत्तेजित हो उठी कि वह हिंसा पर उतारू हो गयी। गांधीजी ने अपने सहयोगियों तथा अनुयायियों के रोषपूर्ण प्रतिरोध के बावजूद आंदोलन को तुरंत रोक दिया। सत्य और अहिंसा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता इतनी संपूर्ण थी कि उनके लिए यह असह्य हो उठा कि एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो उन्हें अति प्रिय था हिंसा और असत्य जैसे निकृष्ट साधन अपनाये जायें। वे ऐसा मानते थे कि केवल सही साधनों

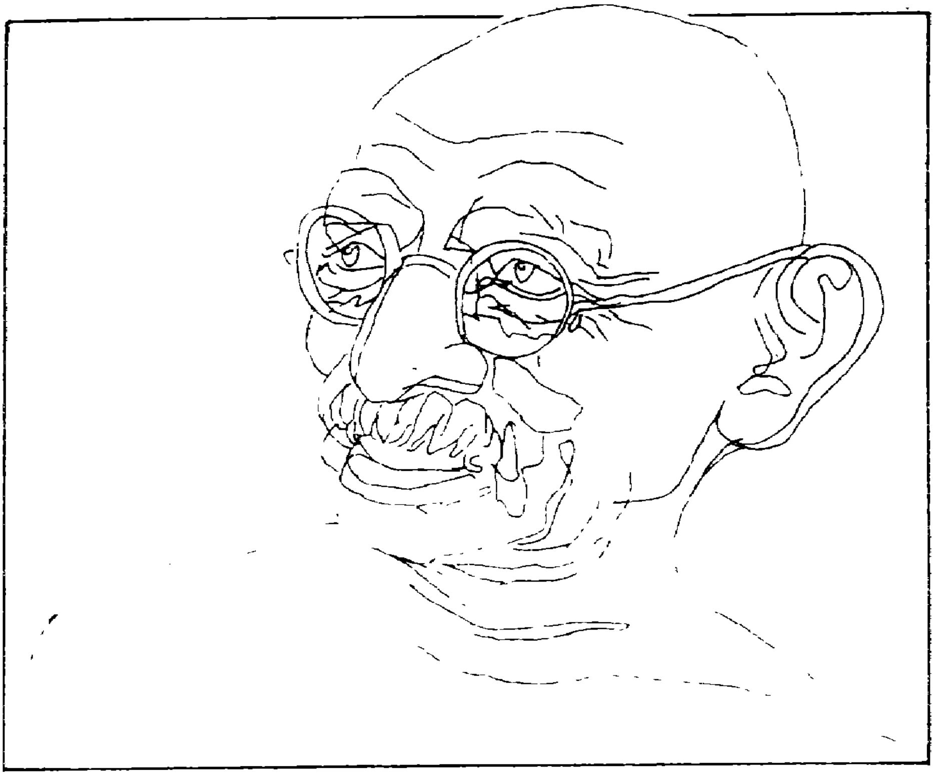
से ही सही लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। व प्रायः कहा करते थे कि "साधन और साध्य समरूप होते हैं।" वे इस कल्पना को कभी आत्मसात नहीं कर पाये कि अनुचित साधनों के प्रयोग द्वारा किसी श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।

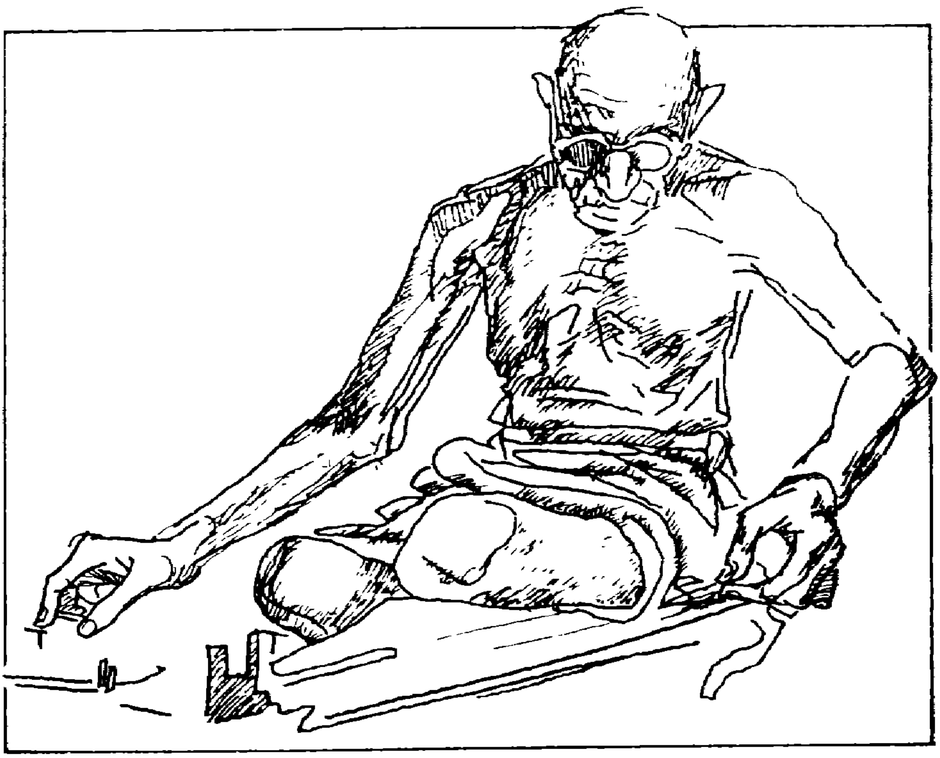
सन् 1930 में उन्होंने प्रसिद्ध 'नमक सत्याग्रह' आरंभ किया, जिसका लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को नमक पर से कर हटाने के लिए मनाना था। वे अपने अभियानो द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की कला में निपुण थे। वे जानते थे कि नमक-कर जैसा संवेदनशील मुद्दा जनचेतना को सहज ही जागृत कर देगा। नमक-कर उन्हें किसी भी रूप में स्वीकार्य न था। पहले उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि वह नमक पर लगाया गया कर वापस ले ले, और जब सरकार ने उनकी प्रार्थना ठुकरा दी तो उन्होंने अपने देशवासियो का आह्वान किया कि "कर चुकाये बिना नमक बनाओ" तथा इस प्रकार सरकार की आज्ञा का उल्लंघन करो। वे स्वयं एक लंबे कूच का नेतृत्व करते हुए समुद्रतट तक पैदल गये और उन्होंने अवज्ञा के प्रतीक स्वरूप कुछ नमक एकत्र किया। इसे ही ऐतिहासिक दांडी यात्रा के नाम से याद किया जाता है। दांडी तथा देश के अन्य भागों में असंख्य स्त्री-पुरुषों ने एक अन्यायपूर्ण कानून का उल्लंघन करने में उनका साथ दिया। इसके अतिरिक्त अन्याय और दमन के विरुद्ध संघर्ष के अनूठे उपाय, अहिंसक सत्याग्रह, ने भी समूचे विश्व का ध्यान अपनी ओर खींचा। इस अवसर पर गांधीजी ने एक लेख में कहा, "शक्ति के विरुद्ध सत्य के इस संघर्ष में मुझे विश्व की सहानुभूति की आवश्यकता है।" नमक सत्याग्रह नमक पर से कर हटवाने में तो विफल हुआ, किंतु वह राष्ट्र को जगाने और जोड़ने में सफल हो गया। शायद गांधीजी की उससे यही मुख्य अपेक्षा थी।

गांधीजी मात्र एक राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं थे। वे विविध सामाजिक समस्याओं के साथ भी घनिष्ठ रूप से जुड़े थे। उनके मन में यह बात गहराई के साथ घर कर चुकी थी कि भारतीय जन-साधारण के सामाजिक संबंधों में दूरगामी परिवर्तनों की आवश्यकता है। वे अस्पृश्यता अर्थात छुआछूत को मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति घोर अपराध मानते थे। वे समाज से बहिष्कृत दरिद्र और उपेक्षित लोगों के साथ एकाकार होने के लिए प्रायः उनकी टूटी-फूटी झोपड़ियों में ठहरा करते थे। एक बार उन्होंने कहा था कि यदि उन्हें फिर से जन्म लेना पड़ा तो वे दलितों की यंत्रणा को अनुभव करने और उसमें हिस्सा बंटाने के लिए एक दलित के रूप में जन्म लेना पसंद करेंगे। समाज की ओर से अपमानित लोगों के लिए उन्होंने हरिजन शब्द की रचना की, और वे उन्हें इसी नाम से पुकारने लगे। हरिजन शब्द का अर्थ है – ईश्वर की संतान। उन्होंने हरिजनों के लिए समाज में पूरी समानता की मांग उठायी। समाज से बहिष्कृत इन लोगो के पक्ष में छेड़े गये उनके अनेक अभियानों से कुछ रूढ़िवादी हिंदुओं को धक्का तो लगा, तथापि उन अभियानों के पीछे इतना विराट नैतिक बल था कि काफी बड़ी संख्या में लोगों ने हरिजनों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल



दांडी यात्रा के दौरान धोती में दुर्बल गांधीजी





(ऊपर) दुर्बल किंतु पूर्ण रूप से सतर्क गांधीजी

(नीचे) चरखे पर सूत कातकर दूसरों के लिए उदाहरण पेश करते हुए

लिया और उनके लिए हिंदू मंदिरों के द्वार तक खोल दिये गये।

सन् 1933 में गांधीजी ने सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया और उसका नाम 'हरिजन' रखा। उनके मन में इस बात का बहुत खेद था कि उस काल में भारत में स्त्रियों का स्तर पुरुषों की अपेक्षा निम्न माना जाता था। गांधीजी को स्त्रियों में अपार आस्था थी। उन्होंने सार्वजनिक रूप से कहा कि स्त्रियां हर प्रकार से पुरुषों के समान श्रेष्ठ और कार्यक्षम होती हैं। गांधीजी ने इस विषय को अनावश्यक रूप से भावात्मक रंग दिये बिना ही स्त्रियों को ऊंचा स्थान प्रदान किया। सहज ही अनेक स्त्रियां उनकी ओर आकर्षित हुईं तथा उनके साथ काम में जुट गयीं।

गांधीजी को धार्मिक कठमुल्लापन से घृणा थी। एक बार उन्होंने कहा था कि धर्म के नाम पर ऐसे लोगों के साथ दुर्व्यवहार करना, जिनके पास आत्मरक्षा का कोई उपाय ही न हो, जघन्यतम पाप है। उनके समूचे सार्वजनिक जीवन में उन्हें सभी धर्मों को मानने वाले अनुयायी मिले। इस बुनियादी सत्य में उन्हें दृढ़ आस्था थी कि समस्त धर्म एक ही तत्व का निरूपण करते हैं। उन्होंने धर्म के मामले में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए टो टूक कहा, "धर्म व्यक्ति का निजी मामला है।" राज्य को धर्म के मामले में किसी भी प्रकार के निर्देश देने का अधिकार नहीं है। वे धर्म को राज्य से पूरी तरह अलग रखने के पक्ष में थे। वे जीवन भर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सद्भाव उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहे। जब सांप्रदायिक दंगे भड़कते और उनमें निर्दोष लोगों को यातनाएं झेलनी पड़तीं तो गांधीजी को अपार कष्ट होता था। उनके जीवन के अंतिम कुछ महीने सांप्रदायिक हिंसा के शिकार लोगों के घावों पर मरहम लगाने में बीते। उनकी मृत्यु भी धर्मांधता के सामने सीना तानकर खड़े रहने का परिणाम थी।

सन् 1942 में गांधीजी ने भारत के उस अंतिम राष्ट्रीय-आंदोलन का नेतृत्व किया जिसमें अंग्रेजों से भारत छोड़ने के लिए कहा गया था। भारत 1947 में स्वतंत्र तो हो गया किंतु देश को दो पृथक राष्ट्रों के रूप में विभाजन की विभीषिका से गुजरना पड़ा। यह पीड़ादायक विभाजन हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उस युगों पुराने द्वेष का परिणाम था जिसकी जड़ें इतिहास में थीं। गांधीजी ने अपना अधिकांश जीवन इन दोनों संप्रदायों के बीच गलतफहमियां दूर करने और भाईचारा स्थापित करने के प्रयास में खपा दिया। बीच-बीच में थोड़े-थोड़े समय के लिए वे इन दोनों के बीच समान प्रयोजनों और समान भविष्य की चेतना जगाने में सफल भी रहे, परंतु घृणा की जड़ें इतनी गहराई तक जा चुकी थीं कि उन्हें उखाड़ फेंकना आसान न था। धार्मिक उन्माद बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ; दोनों ही पक्षों के बहुत से लोग उसकी चपेट में आ गये। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज शासकों और भारतीय नेताओं को भारतीय उप-महाद्वीप के विभाजन पर सहमत होना पड़ा।

इस विभाजन के साथ देश को भीषण रक्तपात की विभीषिका भी भोगनी पड़ी। भारत-पाकिस्तान सीमांत के दोनों ओर लाखों लोग उजड़े और शरणार्थी बन गये। इस भयंकर त्रासदी ने गांधीजी का हृदय तोड़ डाला। उनके मन में यह मलाल बना रहा कि वे जीवन भर जिन मूल्यों की रक्षा के लिए डटे रहे वे सब पूरी तरह धराशायी हो गये थे। उनकी अंतः चेतना में गहरी पराजय-भावना की पीड़ा जाग उठी थी। उनके भीतर जैसे कहीं कुछ टूट गया और वे कह उठे, "मेरे चारों ओर अंधेरा छा गया है।" इस सांप्रदायिक उन्माद ने अंततः 30 जनवरी 1948 के दिन उनके प्राण ले ही लिये।

गांधीजी एक सम्मोहक व्यक्तित्व के धनी थे। अपनी शारीरिक दुर्बलता के बावजूद वे प्रतिदिन कठोर परिश्रम करते थे। वे शारीरिक कठिनाइयां झेल लेते और कभी उफ तक न करते। वे लंबी दूरी तक पैदल चले जाते और कम नींद तथा कम भोजन से काम चला लेते थे। वे पूर्णतया निर्भीक पुरुष थे, तथा अपने साथियों को भी इस महत्वपूर्ण मानवोचित गुण की शिक्षा देने की चेष्टा करते थे। उनकी निर्भीकता उनके व्यक्तित्व की दो बुनियादी विशेषताओं का परिणाम थी – सत्य के प्रति असीम प्रेम और जीवन के बारे में नितांत अवैयक्तिक दृष्टिकोण। वे इस बात की तनिक परवाह नहीं करते थे कि उन पर क्या बीतेगी। उन्होंने धर्म के इस बुनियादी तत्व को आत्मसात कर लिया था कि मृत्यु केवल शरीर का नाश कर सकती है, आत्मा का नहीं। आत्मा अमर है। उनकी इस आस्था ने उनको परम साहसी बना दिया था। उनके मन में इस बात का तनिक भय न था कि उन्हें चोट लग जायेगी, जेल में डाल दिया जायेगा अथवा उनकी मृत्यु हो जायेगी। उनके आश्रमवासियों को ग्यारह व्रत लेने होते थे। उनमें एक व्रत 'सर्वत्र भयवर्जन' था। आश्रम के व्रतों में एक अन्य महत्वपूर्ण व्रत 'शारीरिक श्रम' था। श्रम के सम्मान का यह सिद्धांत गांधीजी ने तालस्ताय से लिया था, जो 'ब्रेड-लेबर' अर्थात रोटी कमाने के लिए किये गये शारीरिक श्रम की श्रेष्ठता के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने शारीरिक श्रम के गौरव का ही नहीं वरन् आलस्य के अनादर का पाठ भी पढ़ाया।

उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताएं बहुत कम थीं और वे गरीबों के साथ पूरी तरह एकाकार हो गये थे। उन्होंने एक बार कहा था कि गरीब लोगों की दुर्दशा की ओर भारत के पढ़े-लिखे लोगों की उदासीनता देखकर उन्हें गहरा आघात लगा है। गांधीजी की एक अंग्रेज शिष्या मीराबेन ने एक बार उनसे कहा कि वे नित्यपाठ के लिए एक विशेष प्रार्थना लिखकर दें। गांधीजी ने लिखा, "हे परमेश्वर। तुम नम्रता के सागर हो। तुम गरीबों और अछूतों की झोपड़ियों में रहते हो। हमें शक्ति दो कि गंगा और यमुना की इस पावन भूमि पर हम तुम्हें प्राप्त कर सकें।"

वे बच्चों से बहुत प्यार करते थे और उनके साथ खेलने में उन्हें बहुत मजा आता था। वे एक बहुत प्यारे और खुशमिजाज तथा परिष्कृत विनोदी स्वभाव के इन्सान थे।

जब वे लोगों से भरे कमरे में प्रवेश करते तो निरापवाद रूप से स्वयं को ही लेकर कोई न कोई गुदगुदा देने वाला मजाक करते जिससे वातावरण हलका हो जाता। उनकी यह विनोदी प्रवृत्ति उनकी विलक्षणता की प्रतीक थी। आमतौर पर तो अपने बड़प्पन में डूबे हुए 'बड़े' लोग अपने चेहरे पर गंभीरता का मुखौटा लगाये रखते हैं।

गांधीजी का एक व्यक्तिगत दर्शन था जो बेहद सरल और सहज था : "हमें निरंतर कर्म में लगे रहना चाहिए क्योंकि वह हमारा कर्तव्य है। किंतु हमें अपने कर्म के फल की कामना नहीं करनी चाहिए।" वे इसे अनासक्ति योग कहते थे, और यह भी कि यही गीता का सार है। उन्होंने स्वयं गीता की एक छोटी सी टीका लिखी जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्ति योग' ही रखा और उसकी प्रस्तावना में अनासक्ति के इस तत्वदर्शन की व्याख्या सरल एवं प्रवाहशील भाषा में की।

कुछ अन्य सिद्धांतों के प्रति भी उनकी आस्था अडिग रही। उनके मन में यह अडिग विश्वास था कि मूलतः मनुष्य की प्रकृति श्रेष्ठ है। वे जिन लोगों से वैचारिक स्तर पर असहमत होते, उन पर भी विश्वास करते थे। वे ऐसा मानते थे कि जिस व्यक्ति को सत्य की तलाश है उसे अपने विरोधी के पक्ष को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रकार की न्यायबुद्धि और ईमानदारी उनके भीतर स्वाभाविक रूप में विद्यमान थी। वे रोगियों की सेवा तल्लीनतापूर्वक करते थे और जिन्हें उनके परामर्श की आवश्यकता होती ऐसे बहुत से लोगों को पत्र लिखकर सलाह देते। वे संगीतप्रेमी थे और उनकी प्रार्थना, जो हमेशा बहुधर्मी होती थी, उत्कृष्ट संगीतमय स्वरों में संजोयी जाती थी। वे नियमित रूप से प्रार्थना करते जो आमतौर पर सामूहिक प्रार्थना होती थी।

गांधीजी के जीवन ने अनेक लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। उनका व्यक्तित्व धर्म की मूल भावना और व्यक्तिगत श्रेष्ठता की एक सजीव मूर्ति था। उनके इन गुणों ने उन्हें भारत की जनता तथा विश्व के अन्य भागों के विविध प्रकार के व्यावसायों में लगे लोगों का चहेता बना दिया था। आरंभ में उनके साथ वे लोग आये जो धार्मिक और ध्यान धारणा के जीवन से जुड़ गये थे। उसके बाद अर्थशास्त्री, कलाकार, संगीतकार, बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता तथा समाज के विभिन्न वर्गों की महिलाएं आदि उनके साथ आ जुटे। उनके शिष्यों तथा सहयोगियों में विविध स्वभाव और प्रतिभा वाले लोग शामिल थे जिनमें बुद्धिजीवी और जननेता जवाहरलाल नेहरू, राजपुरुष सरदार पटेल, प्रतिभाशाली कवि सरोजिनी नायडू और रवींद्रनाथ ठाकुर, यथार्थवादी विचारक राजगोपालाचारी, अर्थशास्त्री कुमारप्पा, आस्थावान ईसाई एन्ड्रयूज़, निस्वार्थ कार्यकर्ता डा. राजेंद्र प्रसाद तथा ऐसे ही अनेक लोग शामिल थे।

महात्मा गांधी एक सफल और रचनात्मक लेखक थे। उन्होंने अनेक पत्रिकाओं की नींव डाली। साथ ही वे अनेक अन्य पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी निरंतर लिखते रहे।

दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' तथा भारत में 'यंग इंडिया', 'नवजीवन', 'हरिजन', 'हरिजन बंधु' और 'हरिजन सेवक' का प्रकाशन किया। वे अपने नाम भेजे गये प्रत्येक पत्र का उत्तर देते थे। अपने जीवनकाल में उन्होंने हजारों पत्र अपने हाथ से ही लिखे जिनमें से अधिकांश पत्र आने वाले पत्रों के फालतू कोरे कागजों और लिफाफों की भीतरी सतह पर लिखे गये। उन्हें जब भी कोई महत्वपूर्ण पत्र मिलता, वे उसे अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित करते, भले ही पत्र लिखने वाला उनके लिए नितांत अपरिचित क्यों न हो।

वे तीन भाषाओं में समान अधिकारपूर्वक लिख लेते थे – हिंदी, गुजराती और अंग्रेजी। उनकी लेखन शैली सरल थी और वे बिना भूमिका बांधे और दिखावटी भाषा एवं शब्दजाल में उलझे सीधे मूल विषय पर उतर जाते थे। उनकी रचनाओं को आसानी से समझा जा सकता है और जिन लोगों ने उच्च शिक्षा नहीं पायी है वे भी उनका आनंद उठा सकते हैं।

गांधीजी के अनेक अनुयायियों ने अलग-अलग विषयों को चुनकर उनकी रचनाओं और उनके भाषणों के प्रासंगिक अंशों के संग्रह प्रकाशित किये हैं, जैसे, 'विद्यार्थियों से', 'स्त्रियों से', 'खादी', 'मद्यनिषेध', आदि। ऐसा ही एक महत्वपूर्ण संकलन है 'मेरे सपनों का भारत'।

विविध लोगों के नाम उनके पत्रों के भी अनेक संकलन प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने जीवन भर जो कुछ लिखा अथवा कहा वह सब 'संपूर्ण गांधी वांगमय' नाम से 100 खंडों में प्रकाशित हो चुका है।

यदि पूछा जाये कि गांधीजी की कौन-सी रचनाएं सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं तो इसका उत्तर हर व्यक्ति अपनी दृष्टि और रुचि के अनुसार देगा। उनकी 'सत्य के प्रयोग' नामक आत्मकथा बहुत महत्वपूर्ण है, परंतु उसमें उनके जीवन, चिंतन और कर्म का सन् 1922 तक का लेखाजोखा ही मिलता है। उनकी सबसे पहली रचना 'हिंद स्वराज' थी। भारत की पुनर्रचना के बारे में उनका दृष्टिकोण समझने के लिए उसका अध्ययन और मनन करना चाहिए। उनकी एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तिका 'दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास' है। एक छोटी-सी पुस्तिका 'रचनात्मक कार्यक्रम' को इस दिशा में उनका महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। इसमें भारत की आम जनता के जीवन के विविध पक्षों का समावेश किया गया है, तथा भारत के सर्वांगीण विकास के लिए निश्चित उपाय सुझाये गये हैं। पुस्तिका में खादी, बुनियादी शिक्षा, पर्यावरण की स्वच्छता, नारी-शिक्षा, पशुधन के सुधार, कुष्ठ-नियंत्रण, हरिजन उत्थान, सांप्रदायिक सद्भाव सरीखे अनेक विषयों का समावेश किया गया है। सर्वोदय विचारधारा में विश्वास रखने वाले लोगों के लिए यह पुस्तिका भारत के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की एक आधारभूत रूपरेखा है। वास्तव में इसी पुस्तिका में यह संकेत निहित है कि लोगों को छोटे-छोटे समूहों और समुदायों में

संगठित होकर अपने जीवन की भौतिक दशाओं को अधिक संतोषजनक बनाने और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए सामूहिक पुरुषार्थ करना चाहिए।

भारत की स्वतंत्रता के लिए छेड़े गये आंदोलन के नेता के रूप में गांधीजी की उपलब्धियों का रहस्य यह था कि उन्होंने भारत की आम जनता को उसके साथ जोड़ा और उसमें भागीदार बनाया। उनके मन में सरकारी मशीनरी के प्रति एक गहरा अविश्वास था जिसके कारण उन्होंने 'ग्राम स्वराज' का मंत्र दिया। उनके मन में यह कल्पना थी कि 'ग्राम स्वराज' के भीतर और उसके माध्यम से आम लोग अपनी समस्याएं हल करने के लिए स्वयं पहल करेंगे। उनकी सफलता का रहस्य यह था कि वे लोगों को स्वैच्छिक आधार पर और मैदान में डटे रहकर काम करने के लिए संगठित करने में सफल रहे। उनका जीवन निर्भीकता तथा स्वावलंबन के उस दर्शन का ज्वलंत उदाहरण है जो अपने जीवन-कर्म की पूर्ति के लिए जीने वाले लोगों को कठिनाइयां सहने की प्रेरणा देता है। आगे के अध्यायों में स्वैच्छिक आधार पर चलाये जाने वाले तीन संगठित आंदोलनों की चर्चा इस उद्देश्य से की गयी है कि जो लोग निर्धन, उपेक्षित तथा दलित लोगों की भलाई के प्रति समर्पित एक निस्वार्थ भारतीय तथा परोपकारी मानव के रूप में गांधीजी द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं, वे उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

2

चिपको : हिमालय में संघर्ष

"अब मुखिया के मन में वहां बैठने की इच्छा उत्पन्न हुई जहां मैं बैठा था। वह तबाकू पीना और शायद थोड़ी ताजी हवा भी खाना चाहता था। उसने बोरी का एक गंदा टुकड़ा लिया, उसे पायदान पर बिछाया और मुझसे कहा, 'तुम इस पर बैठो'। यह अपमान मेरे लिए असहय था। मैं डरा हुआ था और कांप रहा था तथापि मैंने उससे कहा, 'तुम मुझे अपने पांवों में बिठाना चाहते हो। मैं ऐसा हर्गिज नहीं करूंगा...'। अभी मैं अपनी बात कहने के प्रयास में खुद से जूझ ही रहा था कि वह आदमी मेरे ऊपर झपटा और मेरे कानों पर पूरे जोर से मुक्के जमाने लगा। उसने मुझे बांह से पकड़कर नीचे घसीटने की कोशिश की। मैंने बग्घी की पीतल की छड़ें कसकर पकड़ लीं और संकल्प कर लिया कि भले ही मेरी कलाइयां टूट जायें, मैं उन्हें छोड़ूंगा नहीं।"

—**महात्मा गांधी** ('आत्मकथा' से उद्धृत)

हिंदी शब्द 'चिपको' का अर्थ स्पष्ट है, अर्थात् किसी चीज का आलिंगन करना या उसके साथ चिपक जाना। चिपको आंदोलन का यह नाम वास्तव में तब पड़ा जब कुछ लोग कुल्हाड़ियां लेकर वृक्षों को काटने के लिए हिमालय में आये। तब वहां की ग्रामीण नारियों ने वृक्षों के तनों के साथ चिपकते हुए उन लोगों से कहा, "हम तुम्हें पेड़ नहीं काटने देंगी। पहले हमें काटोगे तभी पेड़ों को काट पाओगे।" वे दृढ़ नारियां अपने गांवों और पहाड़ों के वृक्षों को कटने देने की अपेक्षा स्वयं घायल होने अथवा प्राण गंवाने का जोखिम उठाने के लिए तैयार थीं। यह स्वाभाविक ही था कि चिपकने से शुरू हुए इस अभियान को 'चिपको' आंदोलन कहा जाता। निरक्षरता और निर्धनता से ग्रस्त जिन ग्रामीण नारियों को अबोध, अशक्त और सार्वजनिक जीवन में भूमिका निभाने की दृष्टि से सर्वथा अक्षम माना जाता था उन्हीं के ऐसे अनूठे साहस और वज्र संकल्प में से इस 'चिपको' आंदोलन का उदय हुआ।

हिमालय पर्वतशृंखला कश्मीर के ऊपरी भागों से लेकर पूर्व की ओर 5,000

किलोमीटर लंबे क्षेत्र में फैली हुई है। हिमालय का अर्थ है हिम का शाश्वत आलय अर्थात् भंडार। भारत के सुदूर कोनों में बसने वाले स्कूली बालकों ने भी हिमालय का नाम सुना है। ये पर्वतशृंखलाएं बहुत भव्य हैं और भारत के गीतों, नृत्यों तथा जनश्रुतियों में उनका गौरव समाया हुआ है। भारत की उच्चतम नदियों की उद्गम स्थली होने के अतिरिक्त ये पर्वतशृंखलाएं उन लोगों का स्वर्ग भी हैं जो दुस्साहसपूर्ण रोमांच और प्रकृति के सहज आनंद का मजा लूटना चाहते हैं। करोड़ों हिंदू इन नदियों को पवित्र मानते हैं। हिमालय पर्वत में भव्य हिमाच्छादित शिखर हैं, जिनमें से कुछ विश्व के सबसे ऊंचे पर्वत शिखर हैं। हिमालय में घने जंगल हैं, विशेषतया निचले और मध्यवर्ती भागों में, हालांकि उनमें पश्चिमी घाट के जंगलों की अपेक्षा कम प्रजातियों के वृक्ष पाये जाते हैं।

इन पहाड़ों के नर-नारी सरल, खुशमिजाज, बलिष्ठ और कठोर परिश्रम के अभ्यस्त हैं। ये नर-नारी शताब्दियों से प्रकृति अथवा निसर्ग के साथ निर्बाध एवं पूर्ण सामंजस्यपूर्ण जीवन जीते आये हैं। हिमालय की शृंखलाओं में बहुमुखी पर्वतीय संस्कृतियां फूली-फली हैं। लेकिन इन क्षेत्रों में अनेक दशाब्दियों से न प्रगति हुई है, न विकास का कोई काम।

उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य में भारत में रेलमार्ग का निर्माण शुरू हुआ। पटरियां बिछाने के लिए लकड़ी के एक विशेष आकार-प्रकार के शहतीरों की भारी मात्रा में आवश्यकता हुई जिन्हें स्लीपर कहा जाता है। विलसन नाम का अंग्रेज पहला व्यक्ति था जिसने स्लीपर तैयार करने के लिए भागीरथी घाटी के वृक्ष काटने शुरू किये। पेड़ों की लकड़ी के लट्ठे धारा में बहा दिये जाते और उन्हें हरिद्वार में जल से निकाल लिया जाता। लकड़ी के ये चपटे और ठोस स्लीपर 7 फुट लंबे, 1 फुट चौड़े और 4 इंच मोटे होते थे। इस प्रकार, पटरियां बिछाने और रेलगाड़ी के डिब्बे बनाने के लिए रेलवे विभाग के अधिकारियों को लकड़ी के लिए हिमालय के जंगलों की कटाई शुरू करनी पड़ी। जहां नदियों के रास्ते कटे पेड़ों को लाना संभव नहीं था, वहां सड़कों का निर्माण हुआ। इस प्रकार हिमालय की वन-संपदा के दोहन और पर्वतीय पर्यावरण में गंभीर उपद्रव का सिलसिला शुरू हुआ।

एक बार शुरू हो जाने पर यह दोहन तीव्र होता गया और नीचे के क्षेत्रों से ऊंचाई वाले वनों की ओर बढ़ता चला गया और सड़कें चौड़ी होती गयीं। पहाड़ों की लकड़ी तक पहुंचने का मार्ग सुगम हो जाने के कारण उसकी मांग निरंतर बढ़ती चली गयी। मैदानी क्षेत्रों में फर्नीचर के बढ़ते फैशन के कारण बढ़िया लकड़ी की मांग में बेतहाशा वृद्धि और ऊपर से विदेशी मुद्रा के लोभवश उसके निर्यात ने तराई से लेकर ऊंचाई वाले वनों की कटाई के घातक सिलसिले को भारी प्रोत्साहन दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भी सरकार यह समझती और स्वीकार करती थी कि इन वनों और इनकी उपज पर इन वनों के मूल निवासियों के कुछ परंपरागत और प्रथागत अधिकार हैं। वनों से उन्हें फल, चारा, खाद, रेशा और ईंधन आदि मिलते थे। वनों के

कारण पर्याप्त वर्षा होती थी जिससे पहाड़ों में खेती की भरपूर उपज मिल जाती थी। हिमालय की नदियां और उससे बहकर निकलने वाले जल स्रोत कभी नहीं सूखते थे। वृक्ष मिट्टी के कटाव को रोके रहते और वायु को स्वच्छ करते थे।

दुर्भाग्यवश ब्रिटिश सरकार ने वनों को राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करने का स्रोत बनाने का निर्णय कर लिया। वनों के व्यापारिक दोहन का कुचक्र यहीं से चल पड़ा। ठेकेदारों को विशेष वनों की कटाई के लिए अनुमति-पत्र जारी किये जाने लगे। ठेकेदार पेड़ काट भर लेते, नये पेड़ नहीं रोपते थे, जिसके फलस्वरूप जमीन ऊसर और वृक्षों की जड़ों के अभाव में पानी के बहाव से कट-कटकर घायल होती चली गयी।

यह विनाश अनुमति-पत्रों और ठेके के पट्टों तक सीमित न रहा। ठेकेदारों को जहां पांच एकड़ भूमि के वन काटने की अनुमति मिलती वहां वे अवैध रूप से दस एकड़ भूमि के सारे वृक्ष काटकर ले जाते। उन्हें भली प्रकार मालूम था कि इमारती लकड़ी और ईंधन के व्यापार में चांदी ही चांदी थी।

मैदानी क्षेत्रों के नगरों और महानगरों के लोगों को अनेक प्रकार के उपयोग के लिए लकड़ी की आवश्यकता होती थी। भारत की बढ़ती हुई आबादी के कारण लकड़ी की मांग बढ़ती चली गयी और कभी वैध तथा कभी अवैध ढंग से वृक्षों की अंधाधुंध कटाई जारी रही। समूचे भारत के वनों का इसी प्रकार निर्मम, विवेकहीन और भ्रष्टाचारपूर्ण दोहन होता रहा। आज भी इस मामले में हमारे देश की स्थिति कम चिंताजनक नहीं है।

भारी मुनाफा उगलने वाले लकड़ी के इस व्यापार की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग मालदार और शक्तिशाली ठेकेदारों की जेब में गया, पहाड़ों के निवासियों को पेड़ काटने के हाड़तोड़ परिश्रम के बदले में निहायत मामूली सी मजदूरी के अतिरिक्त कुछ न मिला। उधर लकड़ी के व्यापारियों और ठेकेदारों के बर्बर कृत्यों ने शानदार बलूत, चीड़, देवदार और नाना प्रकार के शंकु जाति के बहुमूल्य वृक्षों को काट डाला।

पर्वतीय जनता के मन में लगभग एक शताब्दी से इन वनों और इनकी उपज पर अपने परंपरागत अधिकारों का बोध है। ब्रिटिश सरकार द्वारा वनों को राजस्व और रेलवे निर्माण के लिए 'इस्तेमाल' करने का फैसला वास्तव में इन लोगों के इस अधिकार का उल्लंघन था। एक ओर तो वनों के निवासियों द्वारा वनों की उपज के संग्रह अथवा उसके उपयोग पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिये गये और दूसरी ओर बाहर के ठेकेदारों को वन-संपदा की खुली लूट की छूट दे दी गयी।

इस अनीति के दुष्परिणाम तो देर-सवेर सामने आने ही थे। गढ़वाल-कुमाऊं क्षेत्र की जनता ने सन् 1905 में ही वनों पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध, आंदोलन छेड़ दिया था। तथापि वृक्षों की कटाई के विरुद्ध शांतिपूर्ण प्रतिरोध का जन-अभियान अर्थात् सत्याग्रह टिहरी गढ़वाल के लोगों ने सन् 1930 में छेड़ा। तत्कालीन पर्वतीय आंदोलन देश भर में

चल रहे स्वाधीनता संघर्ष के साथ अनेक रूपों में जुड़ा हुआ था। यही वह समय था जब पर्वतीय क्षेत्र के एक उल्लेखनीय नेता पंडित गोविन्द बल्लभ पंत ने पर्वतीय जनता के वन-संबंधी अधिकारों के लिए छेड़े गये इस जन-आंदोलन का नेतृत्व किया। वे बाद में एक स्वतंत्रता सेनानी तथा ऐसे प्रतिष्ठित राजनेता के रूप में देश के सामने आये जिसने भारत के स्वाधीनता संग्राम में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अहिंसक सत्याग्रह के प्रति जनसाधारण के मन में गहरा आकर्षण रहता है और यह बात आज भी उतनी ही सही है जितनी कि स्वाधीनता-संघर्ष के जमाने में थी। इसका एक ज्वलंत प्रमाण पर्वतीय जनता का 'चिपको आंदोलन' है, जिसकी शक्ति का मूलस्रोत अपने चारों ओर फैले पर्यावरण पर जन-अधिकारों के अहिंसक संरक्षण के आधार पर संगठित जन-अभियान में निहित है। इसमें तनिक संदेह नहीं है कि 'चिपको आंदोलन' ने अपने तात्कालिक लक्ष्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है। यह स्थानीय जनता को नैसर्गिक संसाधनों का दोहन रोकने का अधिकार देने के साथ ही संकटग्रस्त राष्ट्रीय पर्यावरण के संरक्षण के व्यापकतर मुद्दे की ओर भी ध्यान दिलाता है।

यह सही है कि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार तथा परवर्ती भारतीय सरकारों ने एक वैज्ञानिक वन-नीति विकसित करने की चेष्टा की। कुछ कार्यशील वन योजनाएं बनायी गयीं, जिन्होंने अनिवार्य वृक्षारोपण पर बल दिया, अर्थात काटे गये प्रत्येक वृक्ष के बदले एक पौधा रोपना अनिवार्य कर दिया, तथापि जैसा आमतौर पर देखने में आता है इस प्रकार के वैज्ञानिक सिद्धांत कागज पर ही लिखे रह जाते हैं। ठीक यही हाल वैज्ञानिक वन योजनाओं का भी हुआ तथा आज भी वही स्थिति है। मुनाफा और राजस्व प्राप्त करने के लिए वृक्षों की अंधाधुंध कटाई आज भी जारी है। वन में अनेक प्रजातियों के वृक्ष होते हैं तथा इन विविध प्रजातियों के वृक्षों के बीच एक नाजुक संतुलन बनाये रखने का प्रकृति का अपना अलग ही तरीका होता है। यदि भूले-भटके कहीं वृक्षारोपण किया भी गया तो वह ऐसे अनियोजित ढंग से कि केवल व्यापारिक दृष्टि से उपयोगी प्रजाति के पौधे ही रोपे गये। इस पद्धति को 'एकल संवर्धन' पद्धति कहा जाता है, तथा इसके द्वारा केवल एक प्रजाति के वृक्ष ही उगाये जा सकते हैं। यह पद्धति वन पर्यावरण के लिए नितांत अनिवार्य जैविक विविधता को नष्ट करने वन में भीषण विकृतियां पैदा कर देती है।

चिपको आंदोलन उत्तर प्रदेश के कुछ पर्वतीय जिलों में सत्तर के दशक में वनों की रक्षा के लिए शुरू किया गया एक संगठित जनाधारित स्वैच्छिक प्रयास है। इस आंदोलन में सम्मिलित उत्तर प्रदेश के पर्वतीय जिलों को 'उत्तराखंड' के नाम से पुकारा जाने लगा है। इसमें गढ़वाल और कुमाऊं के दो पृथक क्षेत्रों का समावेश होता है। यहां के लोग बलिष्ठ और कठोर जीवन के अभ्यस्त हैं। उनमें बहुत से लोग सशस्त्र बलों और सेना में भर्ती हो जाते हैं। इन क्षेत्रों से गठित सैनिक रेजीमेंट युद्ध में अद्वितीय वीरता का प्रदर्शन करती

रही है। यहां का प्रत्येक तरुण सैनिक वर्दी पहनने और गर्व से उसका प्रदर्शन करने की कामना करता है। वे अब खेती पर कमरतोड़ परिश्रम नहीं करना चाहते। शायद यही एक प्रमुख कारण है कि जिसने इस क्षेत्र में खेती, बच्चों के लालन-पालन, ईंधन-संग्रह तथा दूरदराज के स्रोतों से जल ढोकर लाने का समस्त भार अकेले नारी पर लाद दिया है। इस सब परिश्रम के बावजूद यहां की नारी का स्तर देश के अन्य भागों की नारी की अपेक्षा ऊंचा नहीं है।

जिस जमाने में वन सघन थे और वृक्षों की बहुतायत थी, उस समय स्त्रियां पशुओं के लिए चारे तथा खाना पकाने और घरों को गरम रखने के लिए ईंधन को गांव के पास के वनों से ही एकत्र कर लिया करती थीं। वृक्षों की कटाई और उसके फलस्वरूप वनों के विनाश के कारण ईंधन विरल तथा घास और झाड़ियों का चारा अनुपलब्ध हो गया। इस सबका परिणाम यह निकला कि पर्वतीय नारियों को थोड़ा सा ईंधन और चारा लेने के लिए भी अधिक लंबी दूरी तक जाना और अधिक समय लगाना पड़ता। एक गट्ठर ईंधन का संचय एक थकाने वाला और डरावना काम बन गया।

यह एक सुविदित तथ्य है कि वृक्षों के लोप हो जाने पर वन प्रदेश के कलकल करते झरने सूख जाते हैं तथा खेती करना कठिन हो जाता है। इसके फलस्वरूप पर्वतीय नारियों पर एक अंतहीन और नीरस श्रम का भार आ पड़ता है और आम लोगों का जीवन गरीबी के चंगुल में फंस जाता है। अधिकांश लोगों को पर्वतों पर से वृक्षों का झुरमुट मिटा देने के भयंकर परिणामों का अस्पष्ट सा ही आभास है, किंतु उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि यह सब कैसे होता है : वृक्षों की जड़ें मिट्टी को दृढ़ता से बांधे रखती है। घास और झाड़ियां भी यही कार्य करती हैं। ये जड़ें मिट्टी में प्रवेश कर जाती हैं और उसे पानी सोखने योग्य भुरभुरी बना देती हैं। वर्षा होने पर यह भूमि काफी मात्रा में जल सोख लेती है। वास्तव में स्वयं वृक्ष ही बादलों को वर्षा करने के लिए आमंत्रित और प्रोत्साहित करते हैं। वृक्षों के अभाव में गरम बादल बिना बरसे भूमि पर से गुजर जाते हैं, जिसके कारण सूखा पड़ता है और फसलें नष्ट हो जाती हैं। न खाने को अन्न उगता है, न पीने को पानी मिलता है। वृक्षों का साया सिर पर से हटते ही सूर्य की ऊष्ण किरणें पृथ्वी को तपाने लगती हैं। मिट्टी कठोर हो जाती है, सूख जाती है और उसमें पानी को सोखने की क्षमता ही नहीं रहती। नंगी पहाड़ी ढलानों पर गिरने वाला समूचा वर्षा-जल पृथ्वी पर अपने पूरे वेग से चोट करता है क्योंकि उस पर पेड़ों की सूखी पत्तियों का वह मुलायम गद्दा तो रहता ही नहीं जो वर्षा के आघात को झेल पाता। इस प्रकार वर्षा का जल पृथ्वी में समाये बिना उसके ऊपर से होकर बह जाता है। जब वृक्ष और उनकी जड़ें तथा सूखे पत्तों, झाड़ियों और घास की परत पृथ्वी पर नहीं रहती तो उसकी उपजाऊ ऊपरी मिट्टी पानी के साथ बह जाती है तथा नंगी चट्टानें निकल आती हैं। इस प्रकार टनों मिट्टी बहकर नीचे नदियों में भरती जाती है, जिसके कारण उनका तल ऊंचा उठता जाता है तथा उनकी जल-भराव

क्षमता कम हो जाने के कारण भारी वर्षा में वे अपने तटों को लांघकर हर वर्ष बाढ़ की विभीषिका उत्पन्न कर देती हैं। संक्षेप में, हिमालय के वनों का विनाश ही बार-बार पड़ने वाले सूखे तथा विनाशकारी बाढ़ का प्रमुख कारण है। उसने पर्वतीय तथा मैदानी क्षेत्रों में खेतों की उपज को कम कर दिया है। विशेषतया उत्तर प्रदेश, बिहार, असम तथा हमारे पड़ोसी राष्ट्र बंगलादेश को ये दुष्प्रभाव भोगने पड़ रहे हैं।

एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण के द्वारा हरिद्वार में गंगा के जल प्रवाह को मापा गया। वहां गंगा पहाड़ों को छोड़कर मैदानों में उतरती है। वहां का अधिकतम जल-प्रवाह न्यूनतम बहाव से पचास गुणा अधिक पाया गया। इससे पता चलता है कि वर्षाकाल में तथा पहाड़ों पर बर्फ पिघलने के समय पानी बहुत भारी मात्रा में तथा बहुत तीव्र गति से बह जाता है तथा शेष समय गंगा के लिए मामूली मात्रा में ही जल बचता है। स्पष्ट है कि यह खतरे का संकेत है। कोई भी वर्ष ऐसा नहीं रहता जिसमें मैदानी क्षेत्र सूखे या बाढ़ की चपेट में न आते हों। इस सबसे लोगों को भारी कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। फसलें नष्ट हो जाती हैं, गांव के गांव बह जाते हैं, और पशु मर जाते हैं।

वनों के विनाश से भूमि खिसकने लगती है जिससे समूचे गांव नष्ट और विशाल क्षेत्रों में खेत चौपट हो जाते हैं। जब भूमि पर से वृक्षों तथा वनस्पति का सुरक्षा-कवच नष्ट कर दिया जाता है तो ऊपर की उपजाऊ मिट्टी की परत, जो केवल 6 इंच मोटी होती है वर्षा-जल में आसानी से घुलकर बह जाती है; उसे रोकने के लिए वहां कुछ होता ही नहीं। उसके नीचे से चट्टानें झांकने लगती हैं और वृक्ष-विहीन भूमि बंजर हो जाती है। चट्टानें और कीचड़ भी शीघ्र ही अस्थिर हो जाते हैं जिसके कारण वर्षा ऋतु में भूस्खलन होने लगता है जिससे सड़कें बंद हो जाती हैं तथा कभी-कभी नदियों का प्रवाह अवरुद्ध होने से पूरे के पूरे गांव बह जाते हैं। भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होने की त्रासदी एक धीमी तथा मंथर प्रक्रिया है जो अंततः खतरनाक रूप ग्रहण कर लेती है और जब विनाशलीला खुलकर सामने आती है तब कुछ नहीं किया जा सकता। तब तक बहुत देर हो चुकी होती है।

हिमालय में वनों की अंधाधुंध कटाई लगभग एक शताब्दी से चल रही है। उसके खतरनाक प्रभाव अनेक स्थानों पर देखे जा सकते हैं। श्रीनगर में प्रख्यात डल झील का तल मिट्टी से भर गया है। हिमाचल प्रदेश में कभी खूबसूरत रह चुकी खजियर झील अब गंदी हो गयी है। ऊपर की पहाड़ियों पर से वृक्षों का साया उठ जाने के कारण ली. कार्बूजियर के सुंदर और सुनियोजित शहर चंडीगढ़ में जल आपूर्ति की मात्रा घटती जा रही है। अनेक मैदानी जिलों में खेती को भारी हानि पहुंची है। असम और उत्तर-पूर्वी राज्यों को भीषण बाढ़ का संकट बहुधा झेलना पड़ता है। ईंधन के लिए वृक्षों की कटाई प्रायः समूचे भारत में आज भी अबाध रूप से चल रही है।

हिमालय का दोहन ईंधन और इमारती लकड़ी के लिए वृक्ष काटने तक ही सीमित

नहीं रहा है। इससे भी अधिक बुरा तो यह हुआ कि राल एकत्रित करने के लिए चीड़ के वृक्षों पर वैसे ही गहरे कटान किये गये जैसे कि रबड़ के वृक्षों पर किये जाते हैं। यह विनाश यहीं नहीं रुका, चूने का पत्थर निकालने के लिए पहाड़ों में व्यापक खनन किया गया। राल के लिए वृक्षों को घायल करने से वे निर्बल हो गये और प्रायः तेज हवाओं के थपेड़ों से धराशायी होते चले गये। चूने के लिए किये जाने वाले खनन ने मिट्टी की जल-ग्रहण क्षमता को नष्ट कर दिया। चूना मिट्टी को भुरभुरा बनाये रखता था जिससे वह पानी को सोख सकती थी। चूने के पत्थर के खनन ने पर्वतों की काया पर भद्दे घाव कर दिये हैं और बारहमासी झरनों को सुखा डाला है। देहरादून जिले के सुंदर पर्वतीय पर्यटनस्थल मसूरी को ही लें। मसूरी जो कभी पर्वतों की रानी कहलाती थी आज पूरे वर्ष जलाभाव से त्रस्त रहती है। इसका प्रमुख कारण चूने का पत्थर निकालने वाले ठेकेदारों की गतिविधि है। कुछ पर्यावरण-प्रेमियों ने वर्षों तक सरकार द्वारा चूने की खुदाई के ठेके दिये जाने के विरुद्ध अभियान चलाया परंतु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय के एक फैसले तथा सरकारी विभागों में चूने के पत्थर के खनन के दुष्परिणामों की चेतना उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप इस विनाशकारी गतिविधि पर रोक लग पायी है।

वृक्ष लुप्त हो रहे थे, जलस्रोत सूख रहे थे, और स्वयं जीवन का अस्तित्व संकट में पड़ गया था। अंततः पर्वतीय नारियों ने इस खतरे को पहचाना और समान सोच वाले नर-नारियों ने आपस में एकजुट होकर एक आंदोलन छेड़ दिया जिसने जिलों की सीमाओं को लांघकर हजारों नर-नारियों के मन में एक लंबे समय तक सम्मिलित संघर्ष करने की प्रतिबद्धता उत्पन्न कर दी। वृक्षों की कटाई रोकनी थी और नंगी पहाड़ियों पर फिर से वृक्षारोपण करना था। इस कार्य का पहला चरण था वीरतापूर्ण संघर्ष, और दूसरा धैर्यपूर्वक कठोर परिश्रम। संक्षेप में, यह एक गांधीवादी प्रयास था।

महात्मा गांधी की अंग्रेज शिष्या मीराबेन ने गांधीजी की हत्या के पश्चात् ऋषिकेश की एक पहाड़ी तलहटी में एक आश्रम की स्थापना की थी। उनका ध्यान सबसे पहले इस ओर गया कि विनाशकारी बाढ़ का कारण वनों की व्यापक कटाई और उसके फलस्वरूप हिमालय के वन-आवरण में आया परिवर्तन है। उन्होंने सन् 1949 में ही सरकार को चेतावनी दे दी थी कि चीड़ वृक्षों के रोपण तथा बलूत-वनों के विनाश के परिणाम बहुत भयंकर होंगे। उधर गांधीजी की एक अन्य अंग्रेज शिष्या सरलाबेन ने अल्मोड़ा जिले के कौसानी नाम स्थान पर पर्वतीय बालिकाओं को सामाजिक तथा रचनात्मक कार्यकर्त्रियों के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए एक आश्रम की स्थापना की, जो धीरे-धीरे पर्वतीय क्षेत्र में सर्वोदय आंदोलन का केंद्र बन गया। उन्होंने सक्रिय सर्वोदय कार्यकर्ताओं का एक बंधुमंडल स्थापित किया। इस संगठन ने आरंभ में पांच पर्वतीय जिलों में मद्य-निषेध की समस्या को उठाया और एक जन-आंदोलन के माध्यम से शराब की दुकानें बंद करायीं। इस आंदोलन में नारियों

की भूमिका अग्रणी रही।

सन् 1971 में मद्य-निषेध आंदोलन की सफलता के बाद इस संगठन ने जंगल की समस्या में हाथ डाला। इसकी प्रेरणा उसे उस प्रतिज्ञा से प्राप्त हुई जो 30 मई, 1968 के दिन टिहरी में एकत्र ग्रामीणों ने ली थी और जिसमें कहा गया था कि वे मनुष्य और पर्वतीय जनता के जीवन-प्राण वनों के बीच सनातन मैत्री-संबंधों की पुनर्स्थापना करेंगे।

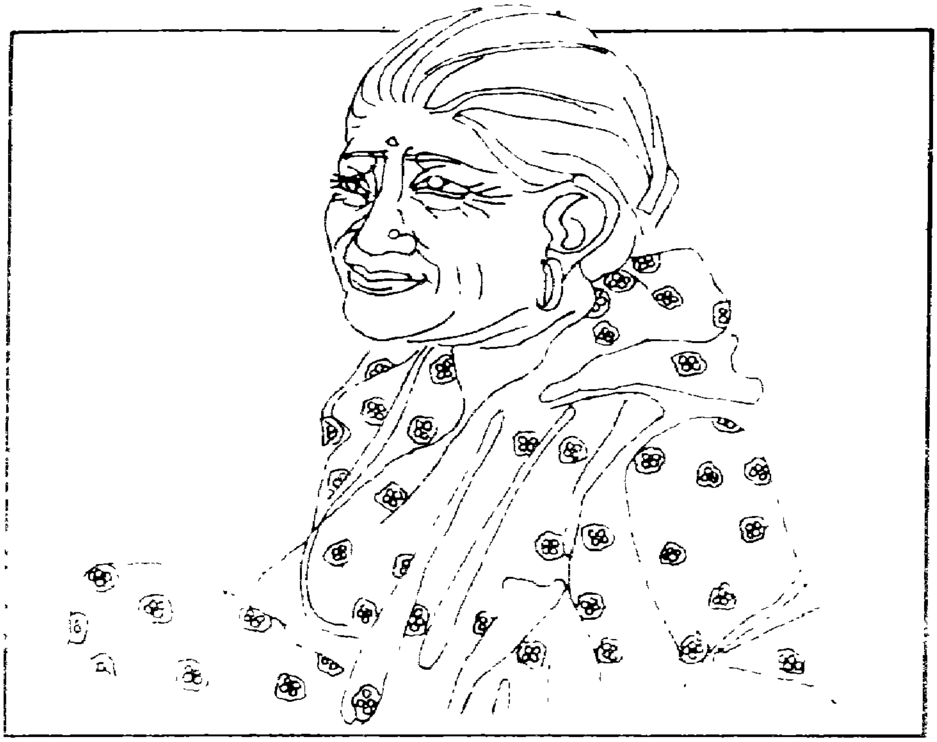
इस चिपको आंदोलन की अगुवाई दो प्रमुख व्यक्तियों – चमोली जिले में गोपेश्वर कस्बे के श्री चंडीप्रसाद भट्ट और टिहरी जिले में घनसाली के निकट सिल्यारा गांव के श्री सुन्दरलाल बहुगुणा ने की। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों से इन दोनों नेताओं ने कई वर्ष तक पर्वतीय गांवों की परिक्रमा करके पर्वतीय जनता के मन में वनों के संरक्षण के प्रति चेतना जगायी तथा लोकमत संगठित किया। उन्होंने समूचे उत्तराखंड की यात्रा पैदल ही की। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उत्तराखंड में दो क्षेत्र हैं – गढ़वाल और कुमाऊं, जिनमें कुल आठ जिलों का समावेश होता है – पिथौरागढ़, नैनीताल और अल्मोड़ा जिले कुमाऊं क्षेत्र में; तथा टिहरी, पौड़ी, चमोली, उत्तरकाशी, और देहरादून जिले गढ़वाल क्षेत्र में।

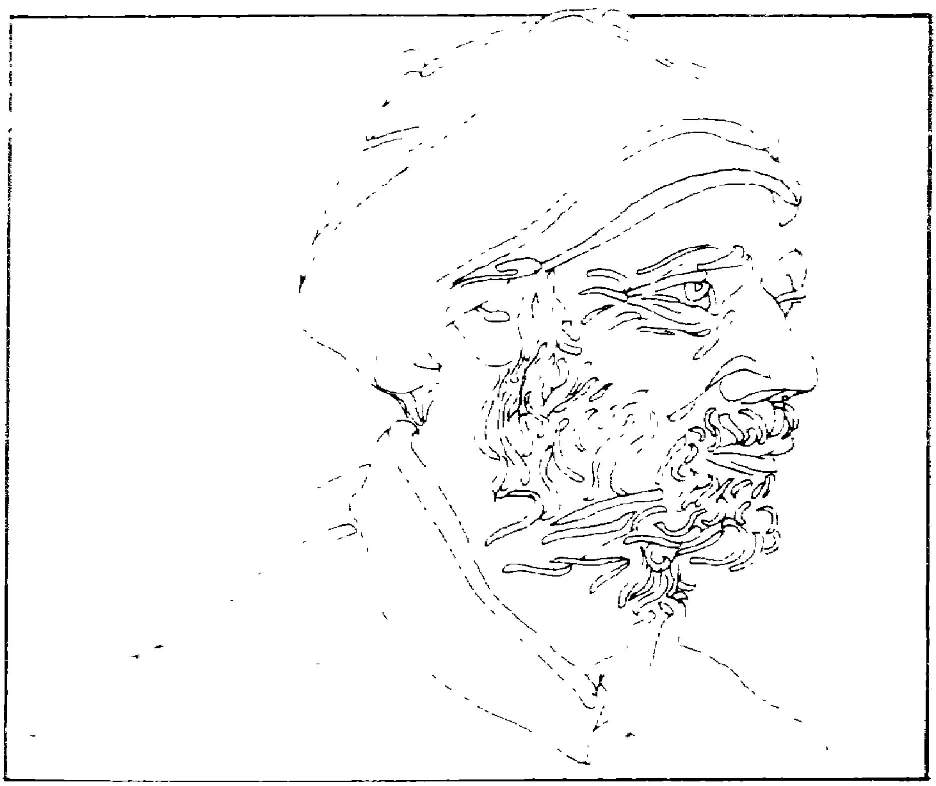
सरल और विनम्र चंडीप्रसाद भट्ट इससे पहले एक स्वैच्छिक संस्था दशौली ग्राम स्वराज्य संघ के प्रमुख कार्यकर्ता रह चुके थे। दशौली एक क्षेत्र का नाम है। उनके कार्य में सहायता देने वाले अन्य कार्यकर्ताओं में से प्रमुख भूमिका अनुसूया प्रसाद, चक्रधर तिवारी और मुरारीलाल ने निभाई। ये लोग इस आंदोलन के आरंभ में ही इसके साथ जुट आये थे। कवि और लोक-गायक घनश्याम रतूड़ी ने चिपको गीतों की रचना की और उन्हें संगीत तथा स्वर प्रदान किया। वे उन्हें ग्राम सभाओं में गाने लगे। ठोस वैज्ञानिक परामर्श देने के लिए वनस्पति-विज्ञानी वीरेन्द्र कुमार हर समय उपलब्ध रहते थे।

प्रख्यात पर्यावरणविद् सुन्दरलाल बहुगुणा टिहरी क्षेत्र के हैं। उनके निकट सहयोगियों में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमला देवी, जिनकी शिक्षा-दीक्षा गांधी आश्रम में हुई, एक समर्पित गांधीवादी कृषक धूमसिंह नेगी और एक युवा-शिक्षिका शशि देवी प्रमुख रहे। सुदूरवर्ती कर्नाटक के पांडुरंग हेगड़े ने भी बहुगुणा जी के साथ वर्षों तक काम किया और उसके बाद वे कर्नाटक लौटकर वहां चिपको आंदोलन का संदेश फैला रहे हैं।

दिसंबर 1972 में पर्वतीय जनता ने इमारती लकड़ी के व्यापारियों द्वारा वन-दोहन के विरुद्ध प्रदर्शन किया। प्रथम चिपको प्रदर्शन चमोली जिले के मंडेल गांव में अप्रैल 1973 में तब हुआ जब लोगों ने यह घोषणा कर दी कि यदि खेल-सामग्री निर्माता कंपनी अगू वृक्ष काटेगी तो वे उन वृक्षों से चिपक जायेंगे।

'चिपको' की यह गाथा पावन तीर्थ बद्रीनाथ के समीपवर्ती तथा चमोली जिले के ही एक अन्य गांव रेणी में दोहरायी गयी। इस गांव में वृक्षों की कटाई अबाध रूप से





(ऊपर) साहसी गौरा देवी जिनकी उत्तम युक्ति ने पेडों को कटने से बचाया।

(नीचे) घनश्याम रतूड़ी, जिन्होंने चिपको आंदोलन पर कविताए लिखीं।



लकड़ी के व्यापारियों की कुल्हाड़ी से बचाने के लिए पेड़ के साथ चिपकी हुई एक आदिवासी महिला।

चल रही थी जिसके कारण वहां के नर-नारी बेहद परेशान थे किंतु समस्या का कोई हल नहीं खोज पा रहे थे। उन्हें सबसे गहरी ठेस इस बात से लगी कि छोटे वनाधारित उद्योगों के माध्यम से स्थानीय जनता के लिए रोजगार जुटाने वाले दशौली ग्राम स्वराज्य संघ को सरकार ने वन-उपज का एक छोटा सा अंश भी लेने की अनुमति न दी और समस्त वन संपदा ठेकेदारों के हाथों नीलाम कर डाली।

सन् 1974 में घटनाचक्र ने रेणी गांव में नाटकीय मोड़ ले लिया। उत्तर प्रदेश की एक प्रसिद्ध खेल-सामग्री निर्माता कंपनी ने इस गांव के आसपास फैले वन से 2,500 वृक्ष काटने और उनकी लकड़ी ले जाने का ठेका प्राप्त किया। कंपनी को मालूम था कि गांवों के लोग वृक्ष काटने के प्रतिरोध में आंदोलन छेड़ सकते हैं और उसे यह आशंका भी थी कि वृक्ष काटने के लिए उसे स्थानीय श्रमिक नहीं मिल पायेंगे, अतः उसने बाहर के श्रमिकों की व्यवस्था कर ली। कंपनी के कार्यकर्ताओं ने एक और चाल चली। जिस दिन उन्हें पेड़ कटवाने थे उस दिन गांव के उन समस्त समर्थ पुरुषों को जो वृक्षों की कटाई का विरोध कर सकते थे किसी बहाने गांव से बाहर भिजवा दिया गया। सरकारी वन-रक्षकों के साथ कुल्हाड़ीधारी श्रमिक एक-एक दो-दो करके चोरी-छिपे गांव में घुस आये। उन्हें आशा थी कि उन्हें कोई नहीं देख पायेगा परंतु ग्रामीण नारियों ने उन्हें देख लिया। उन्हें मालूम था कि गांव के पुरुष गांव में नहीं हैं। अब वे क्या करें? यह प्रश्न उनके सामने था। वे प्रतिरोध करें या असहाय हो मूकदर्शक बनी रहें? निश्चय की घड़ी उनके सिर पर थी।

ग्रामीण नारियों ने प्रतिरोध करने का निश्चय कर लिया।

एक स्त्री गौरा देवी एक झोपड़ी से दूसरी, तीसरी और चौथी, इसी तरह दौड़ती-चिल्लाती गयी और गांव की स्त्रियों से कहा कि वे घरों से बाहर आयें। शीघ्र ही कुल 25 स्त्रियां और लड़कियां कदम से कदम मिलाकर निकल आयीं। गांव में एक अकेला पुरुष मुरारी लाल तेज बुखार में पड़ा था। उसे भी समाचार मिला। वह लड़खड़ाता हुआ बाहर निकला। गौरा देवी ने आह्वान किया, "सब आओ। आ जाओ और वृक्षों से चिपक जाओ।" स्त्रियां टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी रास्तों पर दौड़ पड़ीं और फुरती से उन वृक्षों के पास पहुंची जिन पर कुल्हाड़ी चलने वाली थी। गौरा देवी ने आदेश के स्वर में कहा, "तुममें से प्रत्येक एक-एक पेड़ से चिपक जाओ।" पर्वतीय ग्रामों में पेड़ों से चिपकने की रणनीति संबंधी कोई निर्णय तब तक नहीं लिया गया था। हां, मोटे तौर पर उसका उल्लेख हुआ था। परंतु अब तो चर्चा और विवाद पर गंवाने के लिए समय ही नहीं बचा था। गौरा देवी ने आदेश दे दिया और एक-एक पेड़ से एक-एक स्त्री चिपक गयी। स्त्रियों ने कुल्हाड़े वाले पुरुषों का डटकर सामना किया। यों हुआ चिपको आंदोलन का जन्म।

वृक्ष काटने आये पुरुषों ने स्त्रियों को बहुतेरा समझाया कि वे शांतिपूर्वक वहां

से अपने घरों को लौट जायें। पहले उन्होंने कहा, "देखो, हमारे पास पेड़ काटने के लिए सरकारी अनुमति-पत्र है। हम थोड़े से पेड़ ही काटेंगे, उसके बाद हम यहां से चले जायेंगे।" यह तर्क विफल हो जाने पर उन्होंने दूसरा तर्क खोजा, "कल से हम तुम्हारे मर्दों को मजदूरी पर रख लेंगे।" यह तीर भी निष्फल हो गया। पृष्ठभूमि में सशस्त्र वन-रक्षकों की उपस्थिति से भी स्त्रियां विचलित नहीं हुईं। उनका एक ही दृढ़ उत्तर था, "नहीं, तुम इन वृक्षों को नहीं काटोगे। पहले हमें काटो।" उस समय तक गांव की उन अन्य स्त्रियों को भी, जो अपने दैनिक कार्य पर जंगल में अन्यत्र गयी हुई थीं, गांव की घटनाओं की भनक मिल गयी। वे भी दौड़ती हुई घटना-स्थल पर आ पहुंचीं। 25 स्त्रियों की जगह अब वहां 100 स्त्रियां इकट्ठी हो गयी थीं। उनका सामना 60 से अधिक पुरुषों से था। सत्याग्रही स्त्रियां बेझिझक संघर्ष कर रही थीं।

पुरुषों ने आक्रामक रुख अपनाया। उन्होंने स्त्रियों को गालियां देनी शुरू कर दीं। वे उनका मजाक उड़ाने लगे और अश्लील भाषा के प्रयोग पर उतर आये। स्त्रियों को नीचा दिखाने के लिए उन्होंने शारीरिक बल-प्रयोग को छोड़कर अन्य सभी हरकतें कीं। गौरा देवी चिल्लायी, "यह कार्य अभी करना होगा वरना हम इसे कभी नहीं कर पायेंगी, उनसे मत डरो।" सभी स्त्रियां संकल्पपूर्वक मन में यह आशा लिए हुए वृक्षों से चिपकी रहीं कि उनके गांव के पुरुष शीघ्र ही वहां पहुंच आयेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

फिर भी, वृक्ष काटने आये पुरुषों ने समर्पण कर दिया। उन्होंने लौट जाने का निश्चय कर लिया। यह प्रकृति की रक्षा के लिए की गयी पहली चोट थी।

इसके पश्चात् फरवरी 1978 में हेंवल घाटी में दूसरी उल्लेखनीय घटना हुई। वहां स्त्रियों ने उन वृक्षों के चारों ओर पवित्र धागा (कलावा) लपेट दिया था जिन्हें काटने की योजना थी। उन्हें वृक्षों की रक्षा के लिए सशस्त्र पुलिस का सामना करना पड़ा। उन्होंने गिरफ्तारियां भी दीं। उन स्त्रियों का नारा था :

वन क्या देते हैं?
मिट्टी, पानी और शुद्ध हवा।
मिट्टी, पानी और शुद्ध हवा –
हैं जीवन का आधार।

इस आंदोलन के समूचे प्रारंभिक काल में गांधीवादी चिंतन से प्रभावित नेताओं ने इस क्षेत्र के स्त्री-पुरुषों को हिंसा का मार्ग न अपनाने तथा धमकी और हिंसा का सामना पीछे हटे बिना करने की शिक्षा दी थी।

'चिपको' ने जन-आंदोलन विशेषतया नारी-आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया था। महीनों के मानसिक प्रशिक्षण ने इन भोले लोगों को अन्याय के प्रतिकार हेतु अहिंसक प्रतिरोध अर्थात् सत्याग्रह का मार्ग अपनाने के लिए तैयार कर दिया था। यद्यपि विभिन्न

राजनीतिक दलों से संबद्ध अनेक स्थानीय राजनीतिज्ञों ने इस आंदोलन को इस आधार पर खुला समर्थन प्रदान किया कि इसने मूलरूप से महत्वपूर्ण मुद्दों को उभारा है, तथापि यह राजनीति से सर्वथा अछूता रहा।

अपने व्यापक संदर्भ में चिपको आंदोलन का संबंध 'प्रकृति में पर्यावरण-संतुलन' के संरक्षण से है। ऐसे जटिल मुद्दों को केवल कानून और नियमों के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता। उनके समाधान के लिए जन-शिक्षण तथा प्रकृति के मूल्य और महत्व के बारे में एक स्पष्ट जन-दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता होती है। हम उस जल को पीने के लिए कैसे इस्तेमाल कर सकते हैं जिसे हमने रसायनों के प्रयोग से प्रदूषित कर दिया है? क्या प्रदूषण के फलस्वरूप घातक हो जाने वाले जल में मछलियां नष्ट नहीं हो जायेंगी? हम धुएं और धूल से प्रदूषित हवा में कैसे सांस ले सकते हैं? यदि हम पृथ्वी पर से वृक्षों के आवरण और घास को समाप्त कर दें तो क्या हम उसे रेगिस्तान में नहीं बदल डालेंगे? हम अपने वन्य प्राणियों को जीवित रखना चाहते हैं या उन्हें नष्ट होने देंगे? ऐसे प्रश्न पूछे जाने चाहिए तथा इनके उत्तर सरल रीतियों से सरल भाषा में दिये जाने चाहिए। चिपको कार्यकर्ता इस बात का ध्यान रखते हैं। उनका संदेश काफी बड़ी मात्रा में सार्वजनिक सभाओं में गाये जाने वाले गीतों के माध्यम से प्रसारित होता है। ये गीत प्रायः विद्यार्थियों को सिखाये जाते हैं और वे उन्हें उपयुक्त अवसरों पर सामूहिक गान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। चिपको के उत्साही कार्यकर्ता प्रायः पदयात्राएं करते हैं। ऐसी ही एक पदयात्रा में कश्मीर से कोहिमा तक 5,000 किलोमीटर की दूरी तय की गयी। वे लोग नेपाल तक गये। उनके सामने कुछ भी निश्चित न था, तथापि उन्होंने अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना साहसपूर्वक तथा हतोत्साहित हुए बिना किया। उन्हें मैत्री भावना और लक्ष्य के प्रति अपनी सच्ची लगन के बल पर बहुत से लोगों का समर्थन मिला।

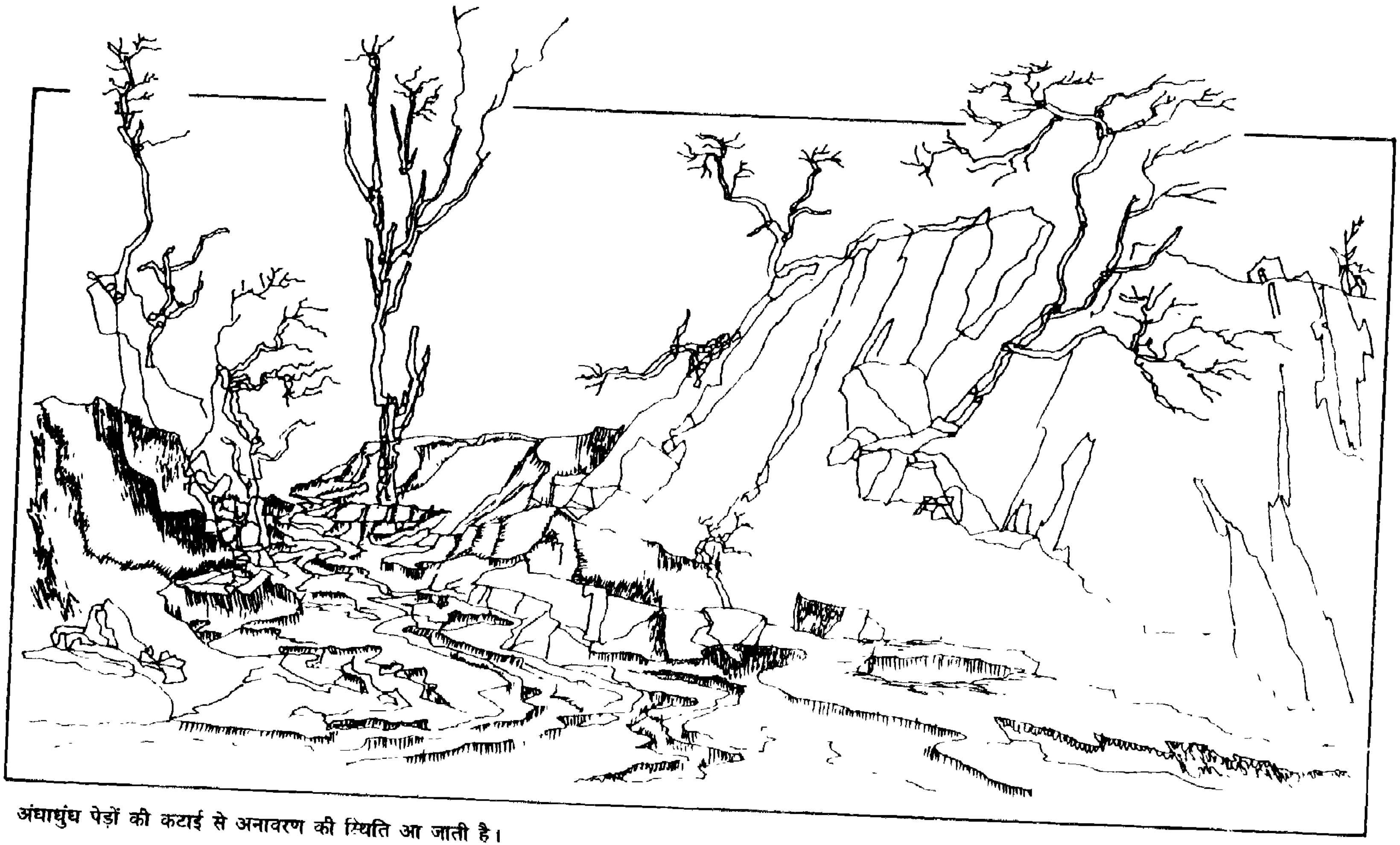
आंदोलन के सशक्त हो जाने पर उत्तर प्रदेश सरकार ने समुद्र तल से एक हजार मीटर से ऊपर के वृक्षों की कटाई पर प्रतिबंध लगा दिया।

इससे चिपको आंदोलनकारियों की मांगें आंशिक तौर पर पूरी हो गयीं, तथापि उनके सामने नाना प्रकार की कठिनाइयां आयीं। इमारती लकड़ी से भारी मुनाफा कमाने वाले जंगलों के ठेकेदार शक्तिशाली और प्रभावशाली थे। वृक्षों की कटाई में उनका निहित स्वार्थ था। उन्होंने एक तर्क खोज निकाला, "बिहार और बंगाल में पृथ्वी के नीचे कोयले के विपुल भंडार हैं। क्या उन राज्यों के लोग यह दावा कर सकते हैं कि उस कोयले पर केवल उनका अधिकार है और अन्य राज्यों के उपयोग के लिए उसका खनन नहीं किया जाना चाहिए?" इस तर्क में यह भाव निहित है कि हिमालय पर व्यावसायिक दृष्टि से बहुमूल्य वृक्षों की प्रचुर संख्या है तथा उस प्राकृतिक ससाधन से लाभ उठाने का समूचे देश को अधिकार है। जब यह तर्क विफल हो गया तो उन्होंने विविध प्रकार के प्रलोभन देने शुरू

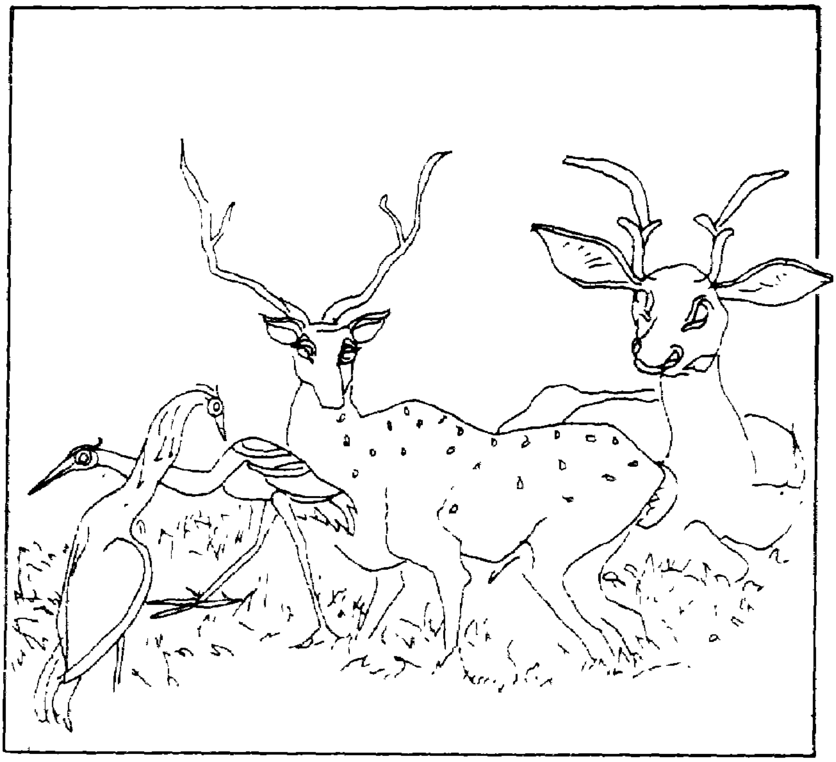
किये, जैसे युवतियों को नौकरियों का प्रलोभन। अनेक अवसरों पर उन्होंने पेड़ काटने की अवैध गतिविधि में गरीब लोगों की सहायता प्राप्त करने के लिए उन्हें भारी मजदूरी और मुफ्त शराब के प्रलोभनों का सहारा लिया। अत्यंत निर्धन लोगों को संगठित करना बहुत आसान नहीं होता और जब वे संगठित हो जायें तब भी उनकी एकता कुछ लोगों को प्रलोभनों के द्वारा विचलित करके भंग की जा सकती है। ठेकेदारों ने अपने विरोधियों के बीच फूट डालने के लिए भी कुछ मार्ग अपनाये। उन्होंने झूठे आरोप लगाकर उनके नेताओं को बदनाम करने की चेष्टा की। उनके बारे में अफवाहें फैलायीं कि उनकी व्यक्तिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं हैं अथवा यह कि उनके मन में कुछ समय बाद अपने लोगों को जंगलों की कटाई के लिए ठेके दिलवाने और उससे व्यक्तिगत लाभ उठाने का इरादा है। बहुत बार यह भी आरोप लगाया गया कि आंदोलन के नेता वन-विज्ञान की जटिलताओं को नहीं समझते। इस प्रकार का समस्त प्रचार और ऐसे सभी प्रलोभन पूरी तरह विफल हो गये और पर्वतीय जनता सुदृढ़ एकता बनाये रखकर वनों की रक्षा में सन्नद्ध रही। उन्होंने शोषकों के विरुद्ध एक सामूहिक मोर्चा ही नहीं बनाये रखा वरन् वनों के पुनरोत्थान के लिए वनस्पतिविदों और विज्ञानियों से सुझाव भी आमंत्रित किये।

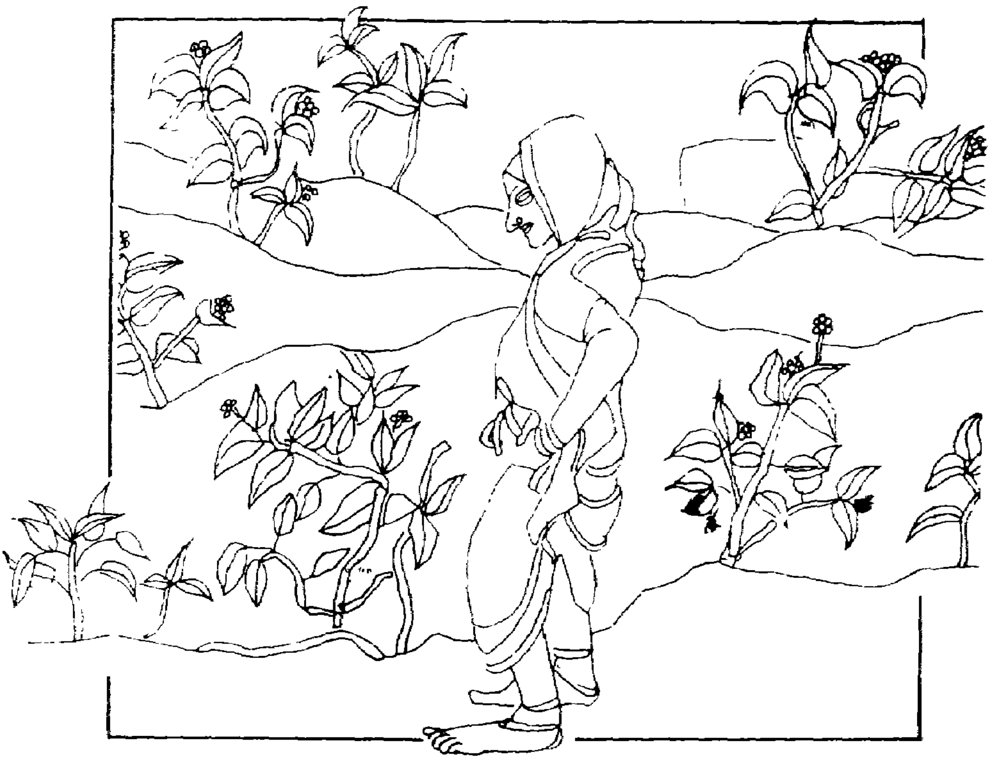
यह देखकर प्रसन्नता होती है कि अनेक पहाड़ियां जो पहले नंगी और सूखी हो गयी थीं अब विविध प्रकार के पौधों से पुनः हरी-भरी हो गयी हैं तथा गांव वाले उत्साहपूर्वक उनकी रक्षा करते हैं। वृक्षों का संरक्षण ही काफी नहीं हैं, नयी पौध रोपना भी आवश्यक है।

इस प्रकार के किसी भी स्वैच्छिक आंदोलन के मार्ग में आने वाली बाधाएं बहुत बार दुर्बल मन वाले स्त्री-पुरुषों को निराश कर देती हैं और वे कार्य छोड़ बैठते हैं। परंतु इस आंदोलन में लोगों ने स्पष्ट रूप से देख लिया था कि पर्यावरण के नष्ट होने से उनका अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। अतः उन्होंने संगठित होकर कार्य करने का संकल्प किया। यह आंदोलन मूलतः लोगों के एक छोटे से समूह की स्वप्रेरणा और उसके मनोबल पर टिका हुआ था। एक समूह में एक ही गांव के स्त्री-पुरुष थे और उस समूह ने अपने गांव के वृक्षों की सुरक्षा का स्वतंत्र दायित्व संभाल लिया था। इस प्रकार प्रत्येक समूह स्वतंत्र था तथा सब समूहों ने संयुक्त कार्यवाही का एक सम्मिलित तथापि लचीला ढांचा तैयार कर लिया था। जैसा कि हम देख चुके हैं इस आंदोलन में स्त्रियों की प्रमुखता रही। उन्होंने अनेक अन्य समस्याओं के समाधान और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'महिला-मंगल दल' बना लिये। ये नारियां जाति और आर्थिक स्तर की दीवारों को लांघकर एक साथ कार्य करती हैं। स्थानीय विद्यालयों और महाविद्यालयों ने कुछ युवाओं को इन नारियों की सहायता के लिए निःशुल्क समयदान करने के लिए तैयार किया है। ये संगठन वृक्षों को केवल ठेकेदारों से ही नहीं वरन् उन कतिपय ग्रामवासियों से भी बचाते हैं जो घोर दारिद्रय



अंधाधुंध पेड़ों की कटाई से अनावरण की स्थिति आ जाती है।





(ऊपर) वन्य जीव-जंतु अपने प्राकृतिक वातावरण में आनंद लेते हुए।

(नीचे) प्रकृति और पशु-पक्षी सबका मन मोह लेते हैं।

से विवश होकर चोरी-छिपे लकड़ी बेच सकते हैं।

चिपको आंदोलन केवल वृक्ष-रक्षा तथा वृक्षारोपण का आंदोलन नहीं है। उसका लक्ष्य एक 'स्थायी अर्थव्यवस्था' के लिए भूमि के उपयोग की रीतिनीति में एक बुनियादी परिवर्तन तथा भोजन, चारे, ईंधन, खाद तथा रेशे के वृक्ष रोपना है। इसका नारा है: 'पर्यावरण ही स्थायी अर्थव्यवस्था है।' इस आंदोलन की इस दृष्टि को मान्यता प्रदान करने के लिए 'सही आजीविका पुरस्कार' (राइट लाइवलीहुड अवार्ड) प्रदान किया गया। हम में से जो लोग इन क्षेत्रों का दौरा करेंगे उन्हें इस आंदोलन के विविध पक्षों के अनेक आकर्षक आयामों का बोध होगा। इस आंदोलन का संदेश अब भारत के अनेक भागों में फैल गया है। कर्नाटक के सिरसी कस्बे के पांडुरंग हेगड़े ने हूबहू ऐसा ही आंदोलन अपने यहां शुरू किया है और इसे 'अप्पिको' (कन्नड़ भाषा में चिपको) नाम दिया है। सन् 1987 में उन्होंने भारत के सुदूर दक्षिणी छोर कन्याकुमारी से गोवा तक पश्चिमी घाट की पदयात्रा की। इस पदयात्रा में अनेक पुरुष, स्त्रियां, युवा और वृद्ध उनके साथ शामिल हुए। महाराष्ट्र के प्रख्यात सामाजिक कार्यकर्ता बाबा आम्टे जनजातीय क्षेत्रों के वनों के संरक्षण के प्रति दृढ़तापूर्वक प्रतिबद्ध हैं। दक्षिण भारत के तमिलनाडु राज्य में 'पूर्वी घाट बचाओ अभियान', 'पलानी पर्वतमाला संरक्षण परिषद' और 'नीलगिरि बचाओ' इसी प्रकार के तीन प्रसिद्ध आंदोलन संगठित हुए हैं। ये समूह प्रचार के माध्यम से जन-जागृति उत्पन्न करते हैं तथा सरकारों को सही नीतियां अपनाने, ईंधन के रूप मे लकड़ी के उपयोग को घटाने के लिए नयी रीतियां खोजने के लिए नये-नये प्रयोग करने तथा ऊर्जा के वैकल्पिक साधन विकसित करने का प्रयास शुरू करने के लिए मनाने की चेष्टा करते हैं और पर्यावरण पर होने वाले आघातों को रोकने के लिए आवश्यकतानुसार अदालतों के द्वार भी खटखटाते है। भारत में प्रकृति के संरक्षण की दृष्टि से अनेक कानून मौजूद हैं। स्थानीय कार्यकर्ता इस बारे में चौकन्ने रहते हैं कि इन कानूनों का पालन किया जाये तथा न तो उनकी उपेक्षा की जाये न उससे बचकर निकलने की चेष्टा।

भारत में हिमालय तथा अन्य क्षेत्रों के वनों को पहुंची क्षति का एक बड़ा अंश तो ऐसा है जिसकी पूर्ति असंभव है। अनेक विज्ञानियों का मत है कि किसी भी अक्षत वन के एक बार क्षतिग्रस्त होने पर उसे पुनर्जीवन प्रदान करना असंभव है। उदाहरणार्थ, वर्षा से उत्पन्न होने वाला और वर्षा को निमंत्रित करने वाला प्रत्येक 'वर्षा-वन' (रेन फौरेस्ट) एक नाजुक प्राकृतिक संतुलन का प्रतीक होता है तथा एक बार उस संतुलन में व्यवधान पड़ जाने पर उसे पहुंचने वाली क्षति अपूरणीय हो जाती है। वनों में कुछ ऐसे पक्षी होते हैं जो हजारों की संख्या में बस्ती बनाकर रहते हैं। उनकी संख्या यदि एक निश्चित संख्या से कम हो जाये तो वे पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं। इस न्यूनतम संख्या से नीचे उनमें पुनर्जीवन की क्षमता नष्ट हो जाती है। कुछ मछलियां ऐसी हैं कि यदि किसी जलाशय, सागर अथवा

नदी में रासायनिक प्रदूषण अथवा अति-दोहन (भारी मात्रा में पकड़ लिये जाने से) के कारण उनकी संख्या एक निश्चित सीमा से कम रह जाये तब शेष मछलियों को बिल्कुल न छेड़ने पर भी वे अपनी संख्या में वृद्धि नहीं कर पातीं तथा धीरे-धीरे नष्ट होती चली जाती हैं। निसर्ग के प्राकृतिक स्थलों में प्राप्त विविधता और विभिन्नता समूचे वनस्पति जगत के स्वास्थ्य की अनिवार्य शर्तें हैं।

विभिन्न प्रजातियों के वृक्षों वाला वनावरण नष्ट हो जाने पर जब उस क्षेत्र में व्यापारिक उपयोग की दृष्टि से केवल एक प्रजाति के वृक्ष रोप दिये जाते हैं तो उससे प्रकृति तथा उस समस्त भौगोलिक क्षेत्र को अत्यंत हानि होती है। प्रजातियों की विविधता का विनाश बहुत खतरनाक होता है। वन बाढ़ और सूखे से रक्षा करने वाले प्राकृतिक बांधों और जल-संग्रह क्षेत्रों के रूप में तो उपयोगी होते ही हैं, वे हमें वनस्पति की प्रजातियों की विविधता भी प्रदान करते हैं।

यद्यपि चिपको आंदोलन मूलतः वनों के व्यापारिक दोहन के विरुद्ध शुरू हुआ था तथापि उसके कुछ आनुषंगिक लाभ भी हुए हैं: ग्रामीण नारियों के आत्मविश्वास में वृद्धि हुई है; वे आज अपने अधिकारों के विषय में अधिक जागृत हैं; वे अपने परिवारों के लिए श्रेष्ठतर जीवन की मांग करने लगी हैं; वे अच्छे विद्यालय, स्वास्थ्य के अधिक साधन, काम का अच्छा वेतन और यंत्रणादायी कार्य से मुक्ति चाहती हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा है कि यद्यपि शुरू में वह केवल एक स्थानीय आंदोलन था, तथापि अब प्रकृति के संरक्षण, प्रदूषण के विरुद्ध संघर्ष, वन्य प्राणियों के परिरक्षण तथा हमारी बहुमूल्य पृथ्वी की मुनाफे के लिए लूट और मानव-मूर्खता द्वारा विनाश की संभावनाओं को रोकने के प्रति समर्पित एक सशक्त अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक बन गया है। चिपको आंदोलन ने प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण 'स्थायी आर्थिक गतिविधि' की धारणा को नया बल प्रदान किया है। 'स्थायी' का अर्थ यहां यह है कि हमें प्राकृतिक संसाधनों को पूरी तरह समाप्त नहीं कर देना चाहिए। खेती भूमि की उर्वरा शक्ति को पूरी तरह नष्ट न करे, उद्योग ऐसे प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट न करें जिन्हें फिर से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इत्यादि।

युवा और वयस्क लोगों को संस्थाओं और जनसंचार माध्यमों द्वारा प्रकृति के संरक्षण का महत्व समझाने के अतिरिक्त यह प्रमुख तत्व आत्मसात कराने की आवश्यकता है कि आर्थिक विकास के नाम पर कुछ उद्योगों को सहायता पहुंचाने के लिए आधुनिक परिवहन माध्यमों तथा रासायनिक कचरे द्वारा प्रदूषण फैलाने की अनुमति देकर और वन-विषयक गलत नीतियां अपनाकर प्राकृतिक वातावरण और पर्यावरण को असंतुलित नहीं करना चाहिए। आर्थिक विकास और प्रगति की कीमत प्रकृति के विनाश द्वारा नहीं चुकाई जानी चाहिए। दो प्रमुख संरक्षणवादियों, श्री बंद्योपाध्याय तथा श्रीमती वन्दना शिवा,

का मत है कि, "चिपको आंदोलन उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में व्यापारिक वृक्षों की कटाई पर 15 वर्ष की अवधि के लिए तथा पश्चिमी घाट और विंध्याचल में सभी पेड़ों की कटाई पर पूर्ण प्रतिबंध लगवाने में सफल रहा है। इसके अतिरिक्त उसने जनता की आवश्यकताओं के प्रति अधिक संवेदनशील राष्ट्रीय वन-नीति के निर्माण और देश के पर्यावरण-विकास के लिए दबाव डालने में सफलता प्राप्त की है। दुर्भाग्यवश, चिपको आंदोलन को निहित स्वार्थों वाले वर्गों ने विकास और पर्यावरण-संबंधी चिंताओं के बीच उत्पन्न संघर्ष की परछाई के रूप में गलत ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यहां विकास का अर्थ केवल भौतिक एवं जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के विकास तथा पर्यावरण का अर्थ अ-भौतिक एवं निरपेक्ष तत्वों, जैसे दृश्यो की सुंदरता आदि से लगाया गया है। विकास और पर्यावरण के बीच इस मिथ्या और खतरनाक द्वंद्व का मुद्दा पर्यावरण की दृष्टि से सुदृढ़ विकास, और अस्थायी तथा पर्यावरण विनाशकारी आर्थिक विकास के बीच के वास्तविक द्वंद्व को आंखों से ओझल करने की एक कुटिल चाल है। अस्थायी तथा पर्यावरण-विनाशकारी आर्थिक विकास हमेशा जीवनदायी नैसर्गिक तत्वों के दोहन पर निर्भर करता है तथा आर्थिक दृष्टि से एकदम किनारे-किनारे जीने वाले समुदायों को भौतिक अभावों में धकेल देता है। प्रामाणिक विकास को पर्यावरण की उस स्थिरता के आधार पर ही खड़ा किया जा सकता है जो बुनियादी संसाधनों की सतत और स्थायी आपूर्ति का आश्वासन देने में समर्थ हो। गांधीजी ने और उनके बाद मीराबेन तथा सरलाबेन ने यह बात स्पष्ट की है कि एक ओर विकास और दूसरी ओर पर्यावरण के स्थायित्व और उसकी स्थिरता के बीच किसी प्रकार का अनिवार्य विरोधाभास नहीं है। विकास की विनाशकारी प्रक्रिया पर आपत्ति उठाने के कारण चिपको सरीखे पर्यावरण संरक्षणवादी आंदोलनों को विकास-प्रक्रिया अवरुद्ध करने का दोषी ठहराया जा रहा है।"

अंत में, वे दोनों इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, "वास्तव में, पर्यावरण की स्थिरता पर निरंतर दृष्टि गड़ाये रखकर वे आंदोलन समस्त मानव जाति के लिए जीवन के स्थिर भौतिक आधारों की सतत आपूर्ति का आश्वासन प्रदान करते हैं।"

यह सब हमें सोचने के लिए विवश करे, यही श्रेयस्कर है।

3

आनंदवन और बाबा आम्टे

"मैं तुम्हें एक मंत्र दूंगा। जब कभी तुम्हारे मन में शंका हो अथवा तुम्हारा स्वार्थ तुम पर हावी होने लगे तब यह कसौटी लागू करना :

तुमने अपने जीवन में जिस दरिद्रतम और निर्बलतम व्यक्ति को देखा हो उसका चेहरा याद करो, और अपने आप से यह प्रश्न पूछो कि तुम जो कदम उठाने के बारे में सोच रहे हो क्या वह उस व्यक्ति के किसी काम का है। क्या उसे उससे कोई लाभ पहुंचेगा? क्या उससे उसके जीवन और भाग्य का नियंत्रण उसके अपने हाथों में लौट आयेगा? दूसरे शब्दों में क्या तुम्हारा वह कदम पेट और आत्मा की भूख से मर रहे करोड़ों लोगों को 'स्वराज' प्रदान कर सकेगा? तब तुम देखोगे कि तुम्हारी शंकाएं और तुम्हारे स्वार्थ पिघल रहे हैं।"

— महात्मा गांधी

यह उस पुरुष की गाथा है जिसका नाम मुरलीधर देवीदास आम्टे है। यह गाथा साहस, प्रतिबद्धता और करुणा की गाथा है। यह उस व्यक्ति की कहानी है जो कवि, नेता, दृष्टा और निर्धनों का मित्र है, साथ ही अधीर और अदमनीय थी।

मुरलीधर का जन्म 26 दिसंबर 1914 को भारत के एक पश्चिमी राज्य महाराष्ट्र के एक छोटे से शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम देवीदास था और कुलनाम आम्टे। पिता देवीदास एक बड़े जमींदार, सरकारी अधिकारी और समाज में सुप्रतिष्ठित व्यक्ति थे। मुरलीधर अपने पिता के साथ दौरे पर जाया करते थे। दौरे के इन अवसरों पर उनका ध्यान उन भयावह जीवन दशाओं की ओर गया जिनमें भूमिहीन मजदूर बंधक बनकर अज्ञानतापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। मुरलीधर के मन में उच्च सामाजिक स्तर और ऊंची जाति के दंभ में जीने वाले समाज के प्रति किंचित आस्था न थी; वे उसके भीतर आत्मसात नहीं हो पाये। उन्हें अन्याय और ऊंच-नीच का भेद पसंद न था। एक बार उन्हें इस कारण दंड भोगना पड़ा था कि वे एक निम्नस्तरीय नौकर के साथ एक ही थाली में खाने बैठ गये थे।

जीवन के प्रारंभ में ही मुरलीधर के मन में प्रकृति-प्रेम उत्पन्न हो गया था। खुला आकाश, पर्वत, वन, नदियां और अन्य वन्य-प्राणी उन्हें मोहित कर लेते थे। कभी-कभी वे प्रकृति के सौंदर्य को निहारने के लिए वन में अकेले घूमते अथवा बैलगाड़ी में यात्रा करते। लगभग इसी समय वे मध्य भारत के बस्तर जिले के मडिया गोंड जनजाति के एक समूह के संपर्क में आये। वे इन सरल लोगो की स्वावलंबी प्रकृति और सत्यप्रियता पर मुग्ध हो उठे। वे वनों में शिकार के समय उनकी अचूक निशानेबाजी की क्षमता के प्रशंसक बन गये थे।

युवा मुरलीधर शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाये रखते। उन्हें कुश्ती, तैराकी, घुड़सवारी और निशानेबाजी का शौक था। उन्होंने संगीत भी सीखा और उनमें कविता के प्रति प्रेम जाग उठा था। वे अब भी मराठी भाषा में उत्कृष्ट कोटि की काव्य-रचना करते हैं। इन सबसे अधिक उन्हें नाटक और गायन से प्रेम था। वे प्रसिद्ध हॉलीवुड अभिनेत्री नौर्मा शियरर और उसके अभिनय से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसे पत्र लिख डाला। अब भी उन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार होता रहता है। उसने मुरलीधर के मानवीय सेवा-कार्य को भरपूर समर्थन दिया है।

मुरलीधर की युवावस्था में भारत पर अंग्रेजों का शासन था, तथा अपने समकालीन युवकों की भांति वे भी स्वाधीनता संग्राम के उमड़ते ज्वार से प्रभावित हुए। वे अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए हिंसक मार्ग अपनाने वाले लोगों को शस्त्र पहुंचाना देश के प्रति अपना कर्तव्य मानते थे। सन् 1935 में बलोचिस्तान (जो अब पाकिस्तान का अंग है) की राजधानी क्वेटा में भीषण भूकंप आया जिसमें जान-माल की भारी हानि हुई। मुरलीधर एक संगठित समूह के सदस्य बनकर राहत कार्य में हाथ बंटाने के लिए क्वेटा गये। सन् 1942 में जब महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन छेड़ा तब मुरलीधर को भी आंदोलन में भाग लेने के आरोप में जेल भेज दिया गया।

एक बार उन्होंने कुछ पुरुषों को एक महिला का अपमान करते देखा तो उन्हें इतना क्रोध आया कि महिला को बचाने के लिए उन पुरुषों के साथ उनकी हाथा-पाई हो गयी। उस मुठभेड़ में लगे घावों के निशान अभी तक उनके शरीर पर हैं।

मुरलीधर ने कानून की शिक्षा ग्रहण की और महाराष्ट्र के चन्द्रपुर जिले के छोटे से कस्बे वरोरा में वकालात शुरू कर दी। परंतु उनका मन निरंतर गरीबों की चिंता में निमग्न रहता था। वे सोचते थे : यहां मैं अदालत में थोड़े से शब्द बोलने के बदले ढेर सारा धन प्राप्त करता हूं जबकि बाहर समाज में एक भूमिहीन श्रमिक बारह घंटे हाड़तोड़ परिश्रम करता है, फिर भी उसे अपने भोजन के लिए एक रुपया कठिनाई से मिल पाता है। क्या यह न्याय है? मेरा कर्तव्य क्या है?

सन् 1946 में मुरलीधर नागपुर चले गये। वहां उनकी भेंट एक युवती से हुई

जो बाद में उनकी पत्नी बनी। उसका नाम रखा गया साधना। यह विवाह बहुत सफल सिद्ध हुआ। साधना इस असामान्य पुरुष की मित्र और प्रेरणा बन गयी। विवाह के पश्चात मुरलीधर ने अपनी पत्नी के सामने अपना हृदय उंड़ेल दिया : "मुझे अपने निर्धन मुवक्किलों से फीस लेने में कष्ट होता है, यह सचमुच उनके शोषण जैसा ही है।" साधना ने उनके प्रति सहमति प्रकट की। मुरलीधर ने वकालत छोड़ दी तथा अपने पिता की सम्पत्ति पर अपने अधिकार का भी पूर्णतः त्याग कर दिया।

मुरलीधर ने स्थानीय नगरपालिका के माध्यम से अपने कस्बे की जनता की सेवा करने का प्रयास किया। सन् 1948 में वे वरोरा नगर परिषद् के उप-सभापति चुने गये। वे सफाई कर्मचारियों के नेता बन गये जिन्हें उस समय भंगी कहा जाता था। यह हिंदू समाज का सबसे निचला और सुविधा-वंचित वर्ग था। वह गंदगी और मल ढोने का हेय और क्षुद्र समझा जाने वाला कर्म करने तथा निम्नतम स्तर का जीवन बिताने को विवश था। रूढ़िवादी हिंदुओं द्वारा अछूत माने जाने वाले ये नर-नारी घोर दरिद्रता में जीते थे और उन्होंने अपने अछूतपन को अपनी धार्मिक परंपरा का अंग मानकर स्वीकार लिया था। उस समय तक गांधीजी 'मनुष्य और ईश्वर, दोनों के प्रति इस अपराध' के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान कर चुके थे। ये निर्धन लोग समाज-बहिष्कृत थे तथा उन्हें सुविधाओं से रहित अपनी झोपड़ियां गांव की मुख्य बस्ती से काफी दूर बनानी पड़ती थीं। उनसे सभी घृणा करते। उनके पास न कोई अधिकार थे, न भूमि थी; न वे विद्यालयों में पढ़ाई कर सकते थे। गांधीजी ने अपने अनुगामियों का आह्वान किया कि वे भंगियों के कार्य को गरिमाहीन न मानें और उन्होंने अपना शौचालय स्वयं साफ करने का उदाहरण प्रस्तुत करके उन्हें भी वैसा ही करने के लिए प्रोत्साहित किया।

इन नर-नारियों को इस पतित अवस्था से मुक्त कराने के गांधीजी के अभियान को 'भंगी मुक्ति आंदोलन' कहा गया।

मुरलीधर ने वह चुनौती स्वीकार कर ली। वे प्रतिदिन 40 शौचालय साफ करने लगे। एक दिन भारी वर्षा के दौरान वे मल की बाल्टी सिर पर धरे जा रहे थे कि अचानक उन्होंने देखा कि एक आदमी पास की ही पानी से भरी हुई एक खाई में पड़ा कराह रहा था। उस आदमी का चेहरा सूजकर बिगड़ गया था। उसके शरीर के घावों में कीड़े पड़ गये थे। मुरलीधर ने जीवन में पहली बार कुष्ठ-रोगी देखा था।

इस दृश्य ने मुरलीधर के जीवन को बदल डाला। उस आदमी को देखकर उन्हें गहरा धक्का लगा और वे भौचक्के रह गये। उन्होंने उस पीड़ित व्यक्ति को मोटे कपड़े से ढांप दिया और मानसिक आघात की उसी अवस्था में तुरंत घर को लौट पड़े। घर पहुंचकर उन्होंने स्नान द्वारा शरीर को तो स्वच्छ कर लिया परंतु वे अपने मन पर से उस दुखी प्राणी की तस्वीर को नहीं मिटा पाये। उनके मन को यह विचार उद्वेलित करता रहा, "मान लो

कि स्वयं मुझे या मेरी पत्नी अथवा पुत्र को यह भयावह रोग लग जाये तो हम कहां जायेंगे?" उन्होंने यह सोचकर अपने-आपको सांत्वना दी कि, "जहां भय है वहां प्रेम नहीं, जहां प्रेम नहीं, वहां परमेश्वर नहीं। मुझे यह भय अपने मन से निकाल देना चाहिए।"

यहां कुष्ठरोग तथा उससे उत्पन्न होने वाले भय के बारे में कुछ बातें जानना आवश्यक है।

कुष्ठरोग अथवा महारोग का उल्लेख हमारे प्राचीन वैदिक वांग्मय में मिलता है। इस रोग के लक्षण, निदान तथा चिकित्सा का विवरण लगभग 4000 ई.पू. रचित सुश्रुत संहिता में उपलब्ध है। कुष्ठरोग एक जीर्ण रोग होता है जिसका प्रभाव त्वचा और सिरे की नाड़ियों पर पड़ता है। यदि उसकी चिकित्सा न की जाये तो उससे हाथों, चेहरे और आंखों में विकृतियां आ जाती हैं।

कुष्ठरोग का कारण एक जीवाणु है जिसे लेटिन भाषा में माइको बैक्टीरियम लेप्रे कहा जाता है। उसकी खोज सन् 1873 में नार्वे के चिकित्सा-शोधशास्त्री हन्सेन ने की थी। इसी कारण कुष्ठ रोग को 'हन्सेन डिसीज' भी कहा जाता है।

इस रोग के जीवाणु का पता लगने से पहले ऐसा माना जाता था कि यह रोग वंशानुगत है, तथा जलवायु और गंदी आदतों के कारण अथवा ईश्वर के कोपवश उत्पन्न होता है। भारत में प्रत्येक अच्छाई और बुराई को कर्म का फल बताया जाता रहा है। यहां ऐसा माना जाता था कि कुष्ठरोग पिछले जन्मों के घोर कुकर्म का फल है। इसे शापजन्य और असाध्य माना जाता था। अतः इसके रोगियों को बस्ती से बाहर निकाल दिया जाता और समाज से बहिष्कृत तथा तिरस्कृत कर दिया जाता था।

कुष्ठरोग दो प्रकार का हो सकता है – लेप्रोमेटस अथवा बहुदंडाणु, तथा नॉन-लेप्रोमेटस अथवा अदंडाणु। बहुदंडाणु कुष्ठ समस्त शरीर को प्रभावित करता है तथा यह संक्रामक अर्थात छूत का रोग होता है। भारत के कुल 40 लाख कुष्ठ रोगियों में से लगभग 20 प्रतिशत इस प्रकार के कुष्ठ रोग से पीड़ित हैं। यदि इसकी चिकित्सा न की जाये तो शरीर पर पटियां और ग्रंथियां उभर आती हैं तथा चेहरा बुरी तरह विकृत हो जाता है। इसके विपरीत अदंडाणु कुष्ठ का प्रभाव शरीर के सीमित भाग पर होता है तथा यह छूत का रोग नहीं होता। भारत में अधिकांश कुष्ठरोगी इसी प्रकार के अदंडाणु से पीड़ित हैं। इसका प्रारंभिक लक्षण है एक अथवा अनेक दागों अथवा चकत्तों का उदय। इसमें शरीर के किसी अंग में चेतनाशून्यता भी उत्पन्न हो सकती है।

कुष्ठरोग एक भयावह रोग है। इसके रोगियों को कोढ़ी कहा जाता है। पश्चिमी जगत में शिक्षा, जीवन के उच्च-स्तर तथा उत्कृष्ट कोटि की स्वच्छता द्वारा इस रोग का उन्मूलन कर दिया गया है, परंतु एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका में कुष्ठरोग काफी व्यापक रूप से फैला हुआ है। भारत में इस रोग के अधिकांश रोगी दक्षिण तथा पूर्व भारत

में पाये जाते हैं।

1930 के दशक के अंतिम वर्षों तक कुष्ठरोग की कोई निश्चित औषधि न थी। उसकी जो कुछ चिकित्सा उपलब्ध थी उसका प्रमुख लक्ष्य कुछ लक्षणों पर काबू पाना, रोगी को साफ-सुथरा रखना और आराम पहुंचाना तथा उसके जीवन के संत्रास को जितना बन पड़े उतना कम करना भर था।

कुष्ठरोग की चिकित्सा न हो पाये तो वह रोगी को असमर्थ और कुरूप बना देता है। हथेलियों और तलुवों की खाल चेतनाशून्य हो जाती है, अतः रोगी अपने आपको चोट पहुंचाता अथवा खुजलाता रहता है जिससे घाव और छाले पड़ जाते हैं।

चेहरे तथा अन्य अंगों की गंभीर विकृतियां उन्हें डरावना तथा वीभत्स बना देती हैं, विशेषतया जिन रोगियों में यह विकसित अवस्था में पहुंच जाता है उन्हें देखकर लोगों के मन में इतनी तीव्र और असह्य वितृष्णा उत्पन्न होती है कि वे उससे आतंकित हो उठते हैं। जैसे ही पता चलता है कि किसी व्यक्ति को कुष्टरोग हो गया है, वैसे ही उसके माता-पिता, पति, पत्नी और संतान तक उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। ऐसा रोगी चाहे स्त्री हो या पुरुष परिवार पर भार बन जाता है और प्रायः इसी कारण ऐसे रोगी को घर-परिवार छोड़ देना पड़ता है। समाज से तिरस्कृत होकर कुष्ठरोगी भिक्षा मांगने के लिए विवश हो जाता है क्योंकि उसकी आजीविका का वही एकमात्र साधन रह जाता है। इन भिखारियों में स्वाभिमान का भाव पूरी तरह नष्ट हो जाता है तथा अपने प्रति दया का भाव जागृत करने के लिए अपने डरावने पीड़ित अंगों का खुला प्रदर्शन करने का हीन स्वभाव उत्पन्न हो जाता है।

कुछ समय पहले रोगी शरीर में इस रोग के लक्षण प्रकट होने पर वह उसे छिपाता था, परंतु कालांतर में छिपाने की इस प्रवृत्ति में अंतर आया है क्योंकि अब लोगों को यह पता चल गया है कि यह रोग आधुनिक चिकित्सा पद्धति द्वारा साध्य हो गया है। इसके बावजूद, अनेक रोगी अब भी इसकी जांच से बचने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार के रोगी को परिवार वाले घर के भीतर बंदी बनाकर रखने की कोशिश करते हैं। यहां यह बताना बहुत उपयोगी रहेगा कि इस रोग को छिपाना हानिकारक है। यदि कुष्ठरोग को छिपाया जाये और उसका इलाज न किया जाये तो यह बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है।

कुष्ठरोग की चिकित्सा का मार्ग तब खुला जब 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में डी.डी.एस. अथवा डैपसोन नामक औषधि विकसित हुई। भारत में इसका प्रथम परीक्षण एक निष्ठावान ब्रिटिश चिकित्सा मिशनरी डा. कोचरेन ने तमिलनाडु के अर्कोट जिले में किया। उन्हें इसके बहुत उत्साहजनक परिणाम प्राप्त हुए। कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिए आज तक डैपसोन को वरीयता प्राप्त है। यह एक सस्ती औषधि है। यदि यह महंगी होती तो सरकार और स्वयंसेवी संस्थाएं कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिए बड़े कार्यक्रमों का आयोजन

न कर पातीं। पिछले कुछ वर्षों में दो नयी औषधियां — रिफामपाइसीन और क्लोफाजीमीन उपलब्ध हुई हैं। भारत के कुछ भागों में डैपसोन के साथ इन दोनों का इस आशा से उपयोग किया जा रहा है कि यदि ये दोनों भी सफल रहीं तो इन तीनों औषधियों के सहारे वर्ष 2000 तक भारत से कुष्ठरोग का पूरी तरह निवारण किया जा सकेगा। इस चिकित्सा को बहु-औषधीय चिकित्सा कहा जाता है तथा इसने सार्वजनिक स्वास्थ्य कर्मियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के मन में भारी आशाएं जगायी हैं।

अब इस बात के स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं कि प्रभावशाली औषधियों, रोग की गहरी समझ और कुष्ठरोग चिकित्सालयों की बढ़ती हुई संख्या के बल पर कुष्ठरोग को नियंत्रित किया जा सकता है।

रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही चिकित्सा हो जाने के कारण शारीरिक विकृतियां कम होती जा रही हैं। 1950 के दशक में क्रिश्चियन मेडिकल कालेज एंड हास्पिटल, वेल्लोर के डा. पॉल ब्रांड ने पुनर्वास शल्यक्रिया का सूत्रपात किया तथा मुड़ी हुई उंगलियों वाले रोगी शल्यक्रिया के बाद अपने हाथों का प्रयोग करने में समर्थ हो गये। आजीविका कमाने के लिए हाथों की आवश्यकता होती है; यह शल्यक्रिया हाथों को सामान्य बना देती है जिससे रोगी आत्मनिर्भर हो जाता है। यह शल्यक्रिया कुष्ठ-चिकित्सा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

कुष्ठ निवारण के समस्त प्रयासों के बावजूद अब भी कुष्ठरोग के नये रोगी चिकित्सा के लिए आते हैं, तथापि यह तथ्य बहुत उत्साहवर्धक है कि प्रारंभिक अवस्था में रोग की चिकित्सा से रोग निश्चित रूप से समाप्त हो जाता है तथा किसी भी प्रकार की विकृतियां उत्पन्न नहीं हो पातीं। एक बार शुरू होने पर रोगी को जीवन भर चिकित्सा चालू रखनी चाहिए। कुष्ठरोग की रोकथाम के लिए प्रभावशाली टीके की वैज्ञानिक खोज भी जारी है।

यद्यपि कुष्ठरोग साध्य हो गया है तथापि समाज द्वारा कुष्ठरोगियों का बहिष्कार जारी है। मुरलीधर ने संकल्प किया कि वे इस समस्या को चुनौती देंगे।

गांधीजी ने कुष्ठरोगियों की सेवा को अपने रचनात्मक कार्यक्रमों का एक अनिवार्य अंग बना लिया था। मुख्यतया इसी प्रेरणा के बल पर वरोरा के निकट दत्तपुर में कुष्ठरोगियों के लिए एक बस्ती-सह-अस्पताल स्थापित किया गया। कुष्ठरोग के साथ जुड़ी हुई समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करने और उनके हल खोजने की दृष्टि से मुरलीधर इस बस्ती में रहने लगे। उन्होंने एक छोटी सी झोपड़ी बनायी और उसमें कुछ कुष्ठरोगियों को रखा। अंततः 1948 में उन्होंने अपने कस्बे वरोरा में कुष्ठरोग के निदान और इलाज के लिए एक केंद्र शुरू किया।

अब तक वे यह बात समझ गये थे कि उन्हें कुष्ठरोग को समझने और उससे

लड़ने के लिए अध्ययन करना होगा। वे कलकत्ता के इंस्टीट्यूट आफ ट्रापिकल मेडिसिन में भर्ती हो गये और उन्होंने वहां से कुष्ठरोग संबंधित परा-चिकित्सकीय कार्य में एक वर्ष का प्रशिक्षण लिया। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि कुष्ठ-निरोधक टीका केवल इस कारण तैयार नहीं हो सका कि पशुओं में कृत्रिम रीति से कुष्ठ उत्पन्न नहीं किया जा सकता, तो उन्होंने प्रयोग के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर दिया। उन्हें कुष्ठ जीवाणुओं के कल्चर का एक इंजेक्शन इस आशा से लगाया गया कि उससे उनके शरीर में कुष्ठरोग उत्पन्न होगा और उसके पीव से कुष्ठ-निरोधक टीका तैयार हो सकेगा, परंतु उनके शरीर पर उस इंजेक्शन का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

सन् 1950 में उन्होंने कुष्ठरोगियों की देखभाल के लिए महारोगी सेवा समिति का गठन किया। उन्हें शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि कुष्ठरोगियों के लिए कोई ऐसा स्थान हो जहां वे रह सकें, उनकी चिकित्सा की जाये, वे उत्पादक और स्वतंत्र बन सकें तथा उनका पुनर्वास हो सके। पूर्ण पुनर्वास का आधार आर्थिक स्वतंत्रता है। मुरलीधर ने अपने सामने यही लक्ष्य रखा।

उन्होंने राज्य सरकार से एक भूखंड मांगा। सरकार ने चंद्रपुर के जंगल में उन्हें एक भूखंड दे दिया। वरोरा के निकट का जंगल वन्य पशुओं और बिच्छुओं से भरपूर था। अपनी युवा पत्नी साधना और दो नन्हे बेटों, विकास और प्रकाश, छह कुष्ठरोगियों तथा जेब में चौदह रुपये की राशि लेकर मुरलीधर उस जंगल में बसने चले गये। उन्होंने वहां बांस की झोपड़ियां खड़ीं कीं, एक कुआं खोदा और वहीं रहना शुरू कर दिया।

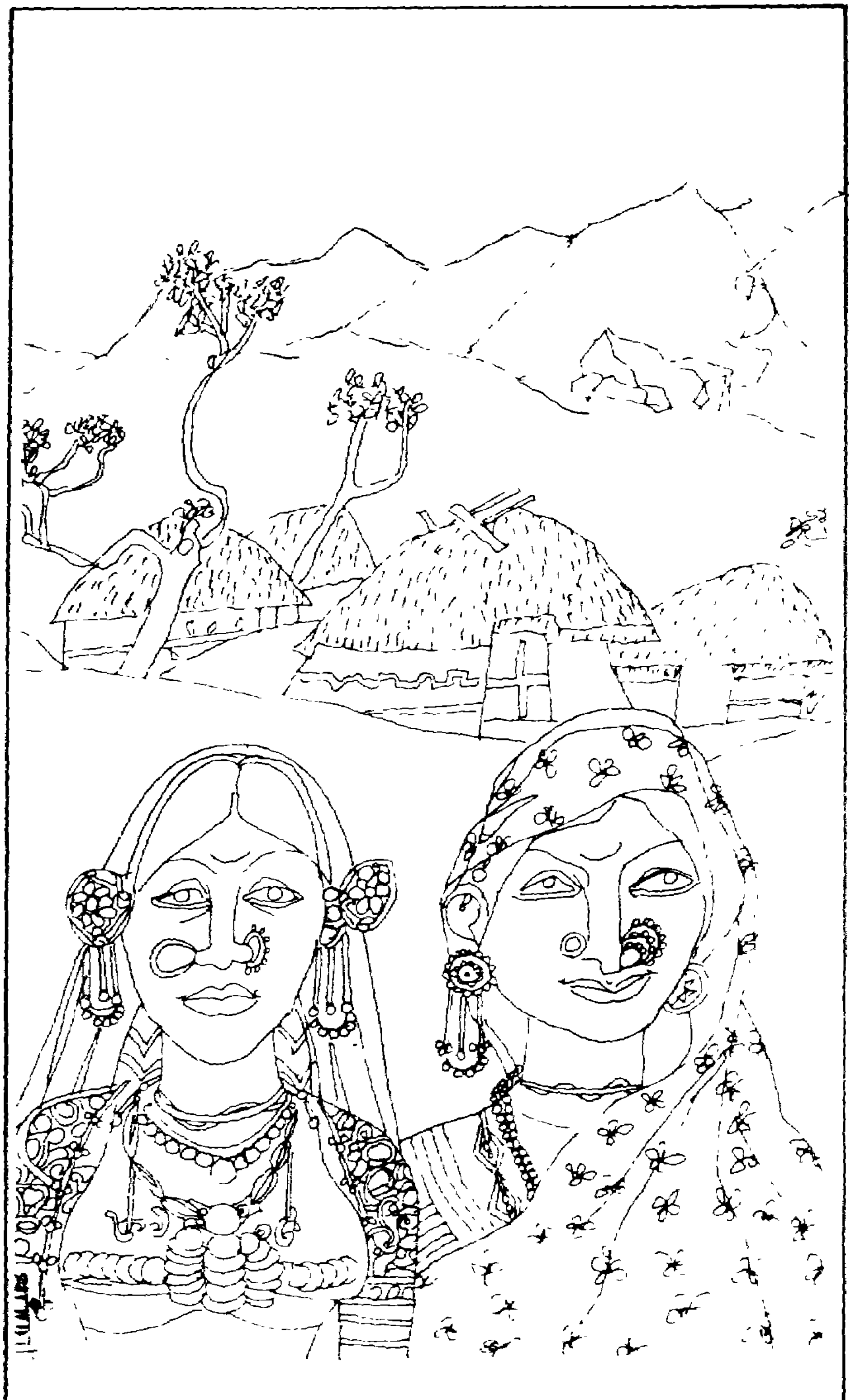
यह आनंदवन का आरंभ था।

मुरलीधर को अब लोग बाबा आम्टे अथवा केवल बाबा कहकर पुकारने लगे। उनके मन में गहरी आस्था थी कि जीवन आनंद और आशा से परिपूर्ण होना चाहिए, अतः वे कुष्ठरोगियों के जीवन में आनंद और आशा का संचार करने के प्रयास में जुट गये। उन्होंने कुष्ठरोगियों के इलाज और पुनर्वास की दिशा में प्रयास शुरू किया।

कठोर परिश्रम, सावधानीपूर्वक नियोजन और दृढ़-संकल्प आनंदवन की दिनचर्या बन गये। सभी काम में जुटते, न कोई ऊंचा था, न नीचा। वे साथ मिलकर वृक्ष गिराते, चट्टानें हटाते, खेती करते, सड़कें बिछाते, बगीचे लगाते और अपनी झोपड़ियां बनाते। यह एक संयुक्त उद्यम था। बाबा प्रायः कहते, "मैं उन्हें एक अवसर प्रदान करना चाहता हूं, दान नहीं।" एक छोटा सा दवाखाना कालान्तर में पूरा अस्पताल बन गया। आज उस अस्पताल में 1500 अंतरंग रोगी भर्ती करने की क्षमता है तथा नित्य 500 बहिरंग रोगियों की चिकित्सा की जाती है। प्रत्येक रोगी की चिकित्सा सावधानी और करुणापूर्वक होती है। कुष्ठ के बारे में वैज्ञानिक शोध की व्यवस्था के अतिरिक्त अस्पताल चारों ओर के गांवों के लोगों को सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाएं भी जुटाता है।



बाबा कुष्ठरोगियों के बारे में कहते हैं : "मेरे रोगी कुष्ठरोग से कटे-फटे हुए हाथों से सब्जी के अपने खेतों पर इंद्रधनुष के समस्त रंगों की छटा बिखेर देते हैं।"



कुष्ठरोग से स्वास्थ्यलाभ कर चुकी महिलाएं सम्मानित जीवन व्यतीत करते हुए।

आनंदवन के पुनर्वास कार्यक्रम का लक्ष्य रोगी को उसके मूल काम पर लौटाना है। यह महत्वपूर्ण है। अधिकांश रोगी यह महसूस करना चाहते हैं कि वे एकदम ठीक हैं और सामान्य जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह लक्ष्य दृष्टि में रखकर विविध आर्थिक कार्यकलापों और कला-कौशल प्रशिक्षण की व्यवस्था के बीच मुख्य बल खेती पर है। रोगियों को उन्हीं कलाओं में पुनः प्रशिक्षित किया जाता है, जिनका उन्हें पहले से ज्ञान और अभ्यास रहा हो। इनमें चटाई-बुनाई, हथकर्घा, चर्मशिल्प,काष्ठ शिल्प, लुहारी, सज्जात्मक कलाएं, पशु-पालन, जिल्दसाजी, सिलाई, धातु की चादरों से वस्तुओं के निर्माण, परा-चिकित्सकीय प्रशिक्षण इत्यादि सम्मिलित हैं। इस प्रकार आनंदवन धीरे-धीरे जरूरतमंद रोगियों से भरता चला गया।

सन् 1967 में बाबा ने सौ किलोमीटर की दूरी पर सोमनाथ में दूसरा केंद्र स्थापित करने का निश्चय किया। वहां भी रोगियों ने ही जंगल साफ किया, छोटे किंतु साफ-सुथरे घर बनाये और गरिमापूर्वक उनमें रहना शुरू कर दिया। सोमनाथ की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि धरातल पर उपलब्ध जल का खेती में उपयोग किया गया। समूचे क्षेत्र का सर्वेक्षण कराया गया तथा वर्षा के जल को रोकने के लिए छोटे-छोटे जलरोधी बांध बनाये गये। शीघ्र ही सोमनाथ के सूखाग्रस्त क्षेत्र ने एक आदर्श रूप ग्रहण कर लिया। भरपूर फसलें उगीं। बाबा ने एक बार गर्वपूर्वक कहा, "मेरे रोगी कुष्ठरोग से फटे हुए हाथों से सब्जी के अपने खेतों पर इंद्रधनुष के समस्त रंगों की छटा बिखेर देते हैं।"

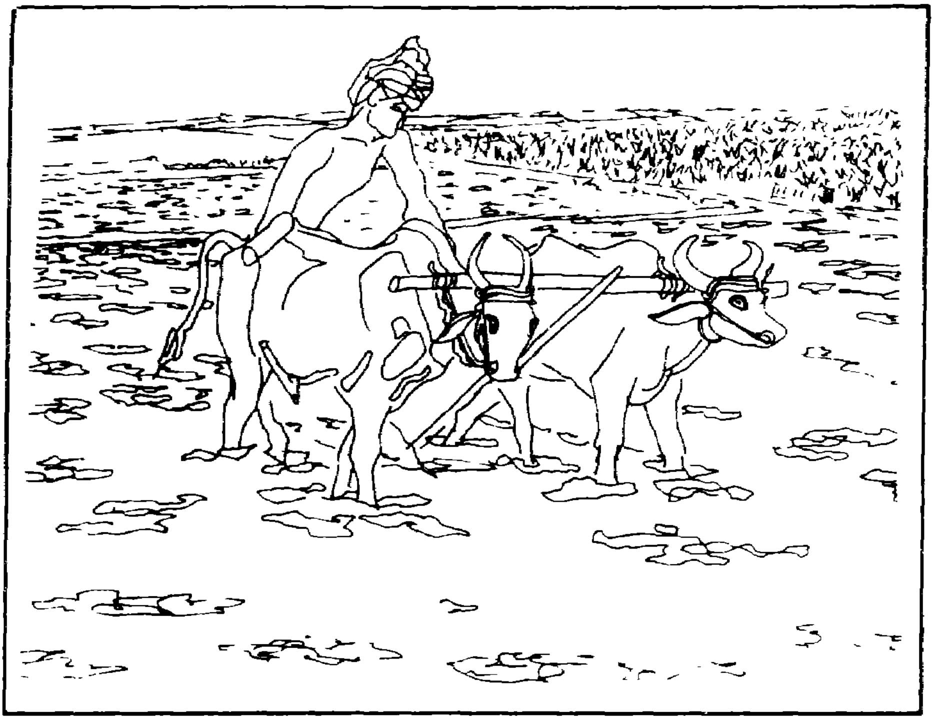
उन्होंने रोगियों को आनंदवन में एक विद्यालय और दो महाविद्यालयों के निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया। ये केवल आनंदवन के निवासियों के लिए ही नहीं, देश के अन्य भागों से आने वाले छात्र-छात्राओं के लिए भी थे। बाद में अनेक अन्य इमारतें खड़ी हुईं। शीघ्र ही समाज से बहिष्कृत लोग एक स्वस्थ समाज के दानदाता बन गये।

भामरागढ़ के समीप हेमलकसा में एक नवीनतम परियोजना ने आकार ग्रहण किया। यह बाबा के बालपन के सपने को सचकर रही है। लड़कपन से ही भडिया गोंड जनजातीय लोगों से उनका गहरा परिचय था। ये लोग सरल, निष्कपट, मैत्रीपूर्ण तथा बाहर के लोगों, व्यापारियों और वन-अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले शोषण के शिकार थे। ये नर-नारी पाषाण युगीन जीवन जी रहे थे तथापि उनका जीवन ईमानदारी और गरिमा से भरपूर था। ये पूरी तरह शिकार और वनों से भोजन-सामग्री के संचय पर निर्भर रहते, बहुत कम वस्त्र पहनते, खुले में आदिम झोपड़ियों में रहते, खूंखार जंगली पशुओं और आग की जोखिम से जूझते तथा गंभीर बीमारियों और भूख से पीड़ित रहते थे। इनका क्षेत्र गढ़ चिरोली जिले में तीन नदियों से घिरा हुआ है तथा वहां तीन राज्यों, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश की सीमाओं का संगम होता है। वहां घने, सुंदर और गहरे वन हैं। बाबा के ज्येष्ठ पुत्र डा. विकास और उनकी डाक्टर पत्नी भारती उन दिनों आनंदवन का विस्तृत

चिकित्सा और पुनर्वास सबंधी कार्य संभाल रहे थे। छोटे पुत्र डा. प्रकाश और उनकी डाक्टर पत्नी मन्दाकिनी ने हेमलकसा जाने और वहां कार्य करने की चुनौती स्वीकार कर ली। डा. प्रकाश ने शल्यचिकित्सा में अपना स्नातकोत्तर अध्ययन बीच में ही छोड़कर आदिम दशाओं में तैयार किये गये काम चलाऊ दवाखाने में काम शुरू कर दिया। उसके बाद वहां दूर जंगल के भीतर एक सादा-सा अस्पताल और चिकित्सा केंद्र खड़ा किया गया। वर्ष में दो बार भोजन और औषधियां वहां पहुंचायी जातीं। जनजातियों के लोग इलाज के लिए पहुंचने लगे। उनके रोग अनेक थे। जलने की घटनाएं आमतौर पर होती थीं क्योंकि ठंडी रातों में वे गरमी प्राप्त करने के लिए आग जलाते, उससे सटकर सो जाते और प्रायः आग में लुढ़क जाते। जंगली पशुओं, विशेषतया भालुओं द्वारा घायल करने की घटनाएं भी बहुधा होती रहतीं जिनके काटने से शरीर पर गंभीर और भद्दे घाव पड़ जाते। दरिद्रताजनित सनातन भूख के कारण कुपोषण और उससे जुड़ी बीमारियां जनजातियों के लोगों को त्रस्त रखती थीं।

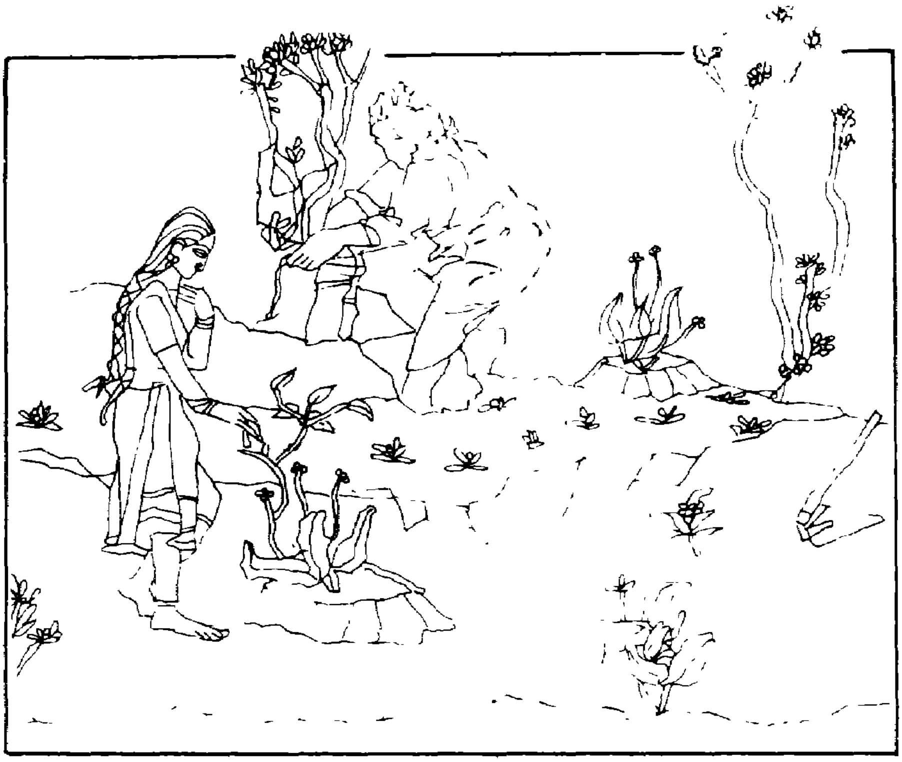
बाबा ने हेमलकसा परियोजना को लोक-बिरादरी नाम दिया। चिकित्सा-संबंधी कार्य परियोजना का पूर्ववर्ती चरण था। मूल लक्ष्य कहीं अधिक विशाल और व्यापक था। बाबा के मन में यह स्वप्न था कि इन सरल और प्यारे लोगों का अस्तित्व सुनिश्चित किया जाये जिससे कि वे अपनी ओर दौड़ी आ रही तथाकथित सभ्यता की चपेट में आकर नष्ट न हो जायें।

बाबा इन शोषित जनजातीय लोगों को उनकी स्थिति के प्रति जागरूक करके उनकी रक्षा करना चाहते थे। उन्होंने सोचा कि यदि उन्हें आत्मरक्षा करनी है तो उन्हें स्वावलंबी होना चाहिए। इसके लिए उन्हें खेती सीखनी होगी और उनके बच्चों को विद्यालय में शिक्षा लेनी होगी। बाबा ने इन दोनों का प्रबंध किया। अब कृषि उपज में सुधार के लिए वहां उन्नत किस्म के बीज बांटे जाते हैं। वे लोग दूध के लिए पशु पालने लगे हैं तथा बकरी, सूअर और मुर्गी-पालन भी कर रहे हैं। बाबा और उनके साथियों ने इन लोगों को उनके अधिकारों के बारे में बताया तथा शोषण के प्रतिकार के लिए उन्हें संगठित किया। बाबा के दल और आदिवासियों के बीच मुक्त संचार की दृष्टि से संवाद की प्रक्रिया निरंतर जारी है। आधार अस्पताल से जुड़े हुए छह उपकेंद्र हैं जो जनजातीय वन के सुदूर कोने तक सेवाएं प्रदान करते हैं। ये इस बात का ध्यान रखते हैं कि उस पर्वतीय वन क्षेत्र में चिकित्सा संबंधी तथा अन्य विकास कार्य वर्षाकाल के दौरान तब भी जारी रहें जब भारी वर्षा और बाढ़ग्रस्त नदियां एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से काट देती हैं। हेमलकसा लोक-बिरादरी परियोजना की एक अन्य गतिविधि ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ताओं को एकीकृत ग्रामीण विकास के लिए प्रशिक्षित करना है। इन कार्यकर्ताओं को स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि जैसे विषयों के अतिरिक्त उन जनजातीय लोगों को भ्रष्टाचार, अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए संगठित





कुष्ठरोग से स्वास्थ्यलाभ कर चुके स्त्री-पुरूष रचनात्मक गतिविधियों में लगे हुए हैं।





(ऊपर) जन-जातीय लोग वन-नाश से मुकाबला करने के लिए पेड़ रोप रहे हैं।

(नीचे) एक मडिया गोंड बाबा आम्टे के कार्यकर्ता से पेड़ रोपना सीखते हुए।

करने का प्रशिक्षण दिया जाता है।

हेमलकसा एक विजय-गाथा है। वह उन पचास हजार मडिया गोंड लोगों के सफल अस्तित्व-संरक्षण और गरिमा-पुनर्जागरण की दास्तान है जिन्हें बाबा "निपट अकेले, विस्मृत और अंतिम जन" कहते हैं।

पिछले कुछ वर्षो में बाबा आम्टे को देश के विविध भागों में फैली हिंसा और आतंकवादी गतिविधियों के कारण गहरा धक्का लगा है। निरीह लोगों पर जिस प्रकार के भयंकर जुल्म ढाये गये, वैसे अत्याचार प्रतिक्रियावादी अथवा सांप्रदायिक प्रयोजनों से प्रेरित लोग ही कर सकते हैं। प्रायः इस प्रकार के हिंसक कार्य गलत नेतृत्व द्वारा गुमराह किये गये अथवा मिथ्या वीरता के दंभी युवक ही करते हैं। उनके हिंसक कार्यो से उत्पन्न होने वाला आतंक विशेषतया आत्मरक्षा में असमर्थ वृद्धों, स्त्रियों तथा बच्चों को चोट पहुंचाता है। बाबा की दृष्टि में हर प्रकार की हिंसा स्वयं में बुद्धिहीनता की परिचायक है। उन्हें इस बात की गहरी चिंता है कि इस हिंसा ने भारत की एकता और सुबद्धता को एक भारी चुनौती दी है। भारत की एकता उनकी चिंता का प्रमुख मुद्दा है तथा उसकी रक्षा के लिए वे सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत हैं। देश की युवा शक्ति में अपनी अखंड आस्था के बल पर उन्होंने दिसंबर 1985 में भारत के सुदूर दक्षिणवर्ती छोर कन्याकुमारी से धुर उत्तर में कश्मीर तक के अपने कूच में सम्मिलित होने के लिए युवाओं का आह्वान किया। गत अनेक वर्षों से वे बैठने में असमर्थ हो गये हैं अतः उन्हें खड़े या लेटे रहना पड़ता है। ऐसी विकट शारीरिक असमर्थता के बावजूद उन्होंने एक मोटर वाहन में लेटकर कूच का नेतृत्व किया। इस कूच को उन्होंने 'भारत जोड़ो कूच' कहा। बाबा ने स्पष्ट किया : "हमने एक विदेशी सरकार से कहा था – भारत छोड़ो। अब जब कुछ शक्तियां भारत को बांटने की चेष्टा कर रही हैं, मैं तुमसे कहता हूं – भारत जोड़ो।" अपनी पूरी यात्रा के दौरान उन्होंने भारत की जनता से अपील की कि वह एक भाई द्वारा दूसरे भाई की हत्या, एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय पर आक्रमण, एक भाषायी समूह द्वारा दूसरे भाषायी समूह के प्रति घृणा के कुचक्र का परित्याग करें। उन्होंने भारत के तरुणों और तरुणियों से कहा कि वे आतंकवाद और हिंसा का मार्ग छोड़ दें। उन्होंने भावुकता भरे स्वर में कहा, "अपना दायित्व दूसरों पर नहीं डाला जा सकता।" कूच अनेक राज्यों में होता हुआ कुछ महीनों बाद कश्मीर पहुंचा। कूच जहां-जहां से गुजरा, स्थानीय जनता ने उसके प्रति उत्साह का प्रदर्शन किया।

कूच का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश पंजाब राज्य में बाबा का प्रवेश और बाद में एक लंबे समय तक वहां का प्रवास था, जहां आतंक और हिंसा के घाव और निशान ताजा और हताशा से भरे थे। उन्होंने सभी धर्मों के सैंकड़ों लोगों से मिलकर उनके दुख में अपनी भागीदारी जतायी। उन्होंने आंतकवादियों के साथ चर्चाएं कीं। वे पंजाब की जनता के मन में आत्मविश्वास और आशा जगाने के निमित्त एक लंबे समय तक पंजाब के गांवों

में ठहरे।

बाबा ने सन् 1988 के अंत में पूर्व में इटानगर से पश्चिम में द्वारिका तक एक अन्य कूच का संचालन किया। वह पांच हजार किलोमीटर लंबा कूच था। इस बार भी युवा लोग भारी संख्या में उनके साथ आ जुटे। उन्होंने भारत की एकात्मता और एकता का संदेश दोहराया।

बाबा किस प्रकार के मनुष्य हैं? उन्हें किसने प्रेरणा दी? बाबा आम्टे पर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भारी प्रभाव रहा। बाबा स्वयं कवि हैं तथा मराठी भाषा की उनकी कविताओं में गहरा सौंदर्यबोध है। उन्हें प्रभावित करने वाले एक अन्य महापुरुष हैं महात्मा गांधी। निर्धनों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता, भारत की एकता के प्रति उनकी वफादारी तथा सत्य के प्रति उनके प्रेम ने बाबा के मानस पर गहरा प्रभाव डाला है। महात्मा गांधी के सच्चे शिष्य विनोबा भावे ने भी बाबा पर गहरी छाप छोड़ी। विनोबाजी का परंधाम आश्रम वर्धा के निकट पवनार में है। वे एक प्रबुद्ध विद्वान और बौद्धिक प्रतिभा संपन्न पुरुष थे। विनोबाजी महाराष्ट्र की संत परंपरा की एक उज्ज्वल कड़ी थे।

बाबा पर एक शक्तिशाली प्रभाव एक महान शिक्षक साने गुरुजी का था, जो महाराष्ट्र के बाहर अधिक विख्यात न थे। सामान्य से स्कूली शिक्षक साने गुरुजी एक अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति थे और मानव मात्र की समानता में उनकी प्रगाढ़ आस्था थी। देश की एकता उन्हें बहुत प्रिय थी और उन्होंने 'अंतर भारती' नामक आंदोलन की नींव डाली। उन्होंने मराठी भाषा में अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी एक उत्कृष्ट रचना है 'श्याम की मां'। साने गुरुजी का बचपन गरीबी में बीता था और उन्होंने चारों ओर मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रति की जाने वाली हिंसा तथा क्षुद्रता, भेदभाव और ऊंच-नीच की असमानता के कारण उत्पन्न होने वाली उस मानवीय पीड़ा का दर्शन किया था जिसने उनके मन को क्षुब्ध कर डाला था।

बाबा आम्टे स्वयं तक अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति हैं। उन पर ईसा मसीह का भारी प्रभाव है। उनकी एक मराठी कविता में ईसा के सलीब पर टांगे जाने का वर्णन है। मानवजाति के प्रति ईसा की करुणा बाबा के जीवन और कर्म में गहराई से पैठ गयी है।

बाबा को धार्मिक उन्माद से भारी वितृष्णा होती है तथा जहां भी उन्हें पवित्रता का दर्शन होता है वे उसका आदर करते हैं। वे एक सशक्त व्यक्तित्व के धनी हैं। वे जीवन का आनंद लेते हैं, उनमें एक परिष्कृत विनोदी वृत्ति है, खराब स्वास्थ्य के बावजूद वे प्रतिदिन कई घंटे काम करते हैं। कुष्ठरोग के क्षेत्र में अपने उस मौलिक कार्य के लिए उन्हें अनेक पुरस्कार और उपाधियां प्राप्त हुई हैं, जिसे वे 'अकेले और विस्तृत आदमी का साथ देना' कहते हैं। अपने अन्य कार्यों के लिए भी उन्हें अनेक सम्मान प्राप्त हुए परंतु उन्होंने उन सबको सहज रूप में स्वीकार किया। उन्हें लोगों से, विशेषतया युवकों से मिलना अच्छा

लगता है। जब कभी वे किसी पीड़ित व्यक्ति से बात करते हैं तो उनके चेहरे पर करुणा के भाव उभर आते हैं। उनका उत्साह प्रेरणादायी होता है। उन्हें संगीत से प्रेम है और देश के कतिपय महानतम संगीतज्ञ उनके व्यक्तिगत मित्र हैं। उन्हें बच्चों के साथ खेलने का चाव है।

ऐसे व्यक्ति हैं बाबा। हम उनका वर्णन कैसे करेंगे? भारतीय समाज अपने प्रियतम सेवकों का सम्मान सहज रूप से पदवियों से करता है। गांधीजी को 'सजीव सत्य' कहा जाता था, नेहरू को 'स्फटिक सा निर्मल', रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत'। बाबा को 'अधीर दृष्टा' कहा जा सकता है। वे एक धारणा की खोज में जिये हैं – उस भारत की धारणा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शांति और गरिमापूर्वक जीता हो, और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन आनंद, आशा और सृजनशीलता से परिपूर्ण हो।

बाबा आम्टे अपने दर्शन का निरूपण इस प्रकार करते हैं :

"मैंने खोजा अपनी आत्मा को,
उसे मैं देख नहीं पाया;
मैंने खोजा अपने परमेश्वर को,
ओझल रहा वह भी मेरी दृष्टि से;
मैंने खोजा अपने भाई को
और मैंने पा लिये वे तीनों –
आत्मा, परमेश्वर और भाई।"

4

सेवा : आत्मगरिमा के लिए नारी का संघर्ष

"प्राचीन काल के दासों को यह बोध न था कि वे स्वतंत्र हो सकते हैं। बहुत कुछ वैसी ही मानसिक स्थिति भारतीय नारी की है। जब दास मुक्त हुए तो वे कुछ समय तक इस सोच में विकल रहे कि वे निराश्रित हो गये हैं। इसी प्रकार भारतीय नारी के मन में यह विश्वास कूट-कूटकर भर दिया गया है कि वह स्वयं को पुरुष की दासी समझे। आवश्यकता इस बात की है कि नारी के मन में उसकी गरिमा तथा पुरुष के साथ उसकी संपूर्ण समानता की चेतना जागृत की जाये और उसे समस्त सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए तैयार किया जाये। यदि हम इस प्रकार की मानसिक क्रांति संपन्न करने का संकल्प उठा लें तो यह कार्य सुगम हो जाये। हमारे समाज की निष्पक्ष भाव से समीक्षा करने पर कोई भी विदेशी इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि हमारी विधियां और प्रथाएं भारतीय नारी को बहुत ही निचला स्तर प्रदान करती हैं। यह बुनियादी तौर पर दोषपूर्ण है तथा इसे जड़मूल से बदल डालना होगा। नारी को प्रदान किये गये इस हेय स्तर के कारण एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसके कारण भारतीय समाज की पुनर्रचना के हमारे समस्त प्रयास अधूरे रह जाते हैं और हमारी गतिविधियां निष्प्राण हो जाती हैं।'

—**महात्मा गांधी** (उनकी 'रचनात्मक कार्यक्रम' और
'त्यागमूर्ति' (गुजराती) पुस्तकों से उद्धृत)

'सेवा' आंदोलन की गाथा के सूत्र का आरंभ सीधे महात्मा गांधी से होता है।

दक्षिण अफ्रीका में अपने संघर्षों और उनमें विजय प्राप्त करने के पश्चात् गांधीजी सन् 1915 में भारत लौटे तथा बिहार में चंपारण-सत्याग्रह की सफलता के उपरांत अपने अहमदाबाद आश्रम में बस गये थे।

भारत में औद्योगिक क्रांति का एक मूलभूत अंग कपड़ा मिलें थीं। इस क्रांति के साथ भी वैसी ही प्रतिगामी स्थितियां उत्पन्न हो गयी थीं जैसी कि पश्चिमी जगत में ऐसे ही सामाजिक रूपांतरण के प्रारंभिक काल में उभर आयी थीं। मजदूरी की दरें बहुत

कम थीं, काम के घंटे अधिक थे, कार्य-दशाएं थका देने वालीं थी तथा घर भद्दे और गंदे थे। श्रमिक जिन 'चालों' (गंदी और तंग बस्तियों) में रहते थे, वे ठसाठस भरी रहतीं और उनका वातावरण निम्नकोटि का था। ये सभी श्रमिक वे भूमिहीन किसान थे जो निर्धनतावश अपने गांवों से उखड़कर आजीविका की खोज में शहरों में आ बसे थे। उनमें से अनेक लोगों को अहमदाबाद नगर के सतत विकासशील कपड़ा उद्योग में काम मिल गया था।

सन् 1922 में गांधीजी ने मजदूरी की दरों में सुधार की मांग को लेकर इन श्रमिकों की हड़ताल का नेतृत्व किया। हड़ताल सफल रही। हड़ताल संपन्न होने के बाद गांधीजी ने उन कपड़ा मिल श्रमिकों को एक श्रमिक संघ के रूप में संगठित किया और उसका नाम रखा 'मजूर महाजन' (टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन)। 'मजूर महाजन' भारत में सर्वप्रथम गांधीवादी श्रमिक संघ था। पिछले सात दशकों में उसकी सामर्थ्य में भारी विकास हुआ है। वर्ग संघर्ष की धारणा में उसकी आस्था नहीं है तथा उसने हड़ताल अथवा हड़ताल की धमकी अर्थात् हिंसा का उपयोग किये बिना ही मिल-मालिकों के साथ चर्चाओं के माध्यम से श्रमिकों की समस्याओं के समाधान के मानदंड स्थापित किये हैं।

'सेवा' मजूर महाजन की ही एक परोक्ष शाखा है। इसकी संस्थापिका श्रीमती इला भट्ट हैं जिन्हें स्नेहवश इलाबेन कहा जाता है। वे 'मजूर महाजन' की एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में नारी-हितों की कई वर्षों तक प्रबल पोषिका रहीं। अतः वे सहज ही औद्योगिक श्रमिकों की समस्याओं और उनके संगठन के लाभों से घनिष्ठ रूप से परिचित थीं।

परंतु उनका चित्त कहीं और ही लगा था।

उन्होंने अहमदाबाद शहर में हाथ-ठेला खींचने वाली नारियों की दुर्दशा देखी थी। उनके मन में प्रश्न उठा, 'शहरों और कस्बों में इस प्रकार के काम करने वाली महिलाओं को कौन संगठित करेगा?' ये नारियां समाज को अपनी सेवा प्रदान कर रही थीं तथापि उनका जीवन कठोर, उनका सामाजिक-स्तर हेय और उनका पारिश्रमिक बिल्कुल मामूली था, तथा उनकी असमर्थताएं असंख्य थीं। स्व-उद्यम में लगी ऐसी नारियों की संख्या कई हजारों में थी।

इलाबेन ने अलग से एक 'स्वाश्रयी महिला सेवा संघ' (सेल्फ-एम्प्लायड वीमेन्स एसोसिएशन) गठित किया। यही संक्षेप में 'सेवा' कहलाया। वे निर्धन तथा स्व-उद्यमी नारियों की गरिमा के संरक्षण का कठिन कार्य संपन्न करने की दृष्टि से 'मजूर महाजन' से अलग हो गयीं।

आधुनिक उद्योगों के शहरी श्रमिकों को संगठित करना अपेक्षाकृत सुगम होता है। वे साथ-साथ काम करते हैं, दिन-प्रतिदिन आपस में मिलते हैं, काम के समय समान समस्याओं से जूझते हैं और उनकी मजदूरी की दरें भी एक समान होती हैं। इन सब कारणों

से उनमें अपने समूह के प्रति प्रबल सामूहिक चेतना उत्पन्न हो जाती है। अतः वे संगठित होने के लिए आसानी से तैयार हो जाते हैं। औद्योगिक संस्कृति के भीतर श्रमिक संघों को एक महत्वपूर्ण स्थान होता है, वे भली प्रकार संगठित तथा सशक्त होते हैं और उन्हें समुचित मान्यता प्राप्त होती है। इन श्रमिक संघों के कारण ही श्रमिकों को मजदूरी की दरों तथा कार्यदशाओं में सुधार के लाभ प्राप्त होते हैं।

इसके सर्वथा विपरीत कृषि-श्रमिकों, ग्रामीण शिल्पियों अथवा स्व-उद्यमी कर्मियों को संगठित करना कठिन होता है। इन लोगों का आपस में मिलना-जुलना अधिक नही हो पाता तथा इनमें प्रायः एक दूसरे से अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति होती है। इनमें जो लोग बहुत गरीब होते हैं उन्हें दूसरे समय का भोजन जुटाने की चिंता लगी रहती है तथा संगठन जैसी बातों का उनके मन पर कोई त्वरित प्रभाव नहीं पड़ता। श्रेष्ठतर जीवन-दशाएं प्राप्त करने के लिए अपने-आपको संगठित करने के लिए एक निश्चित मात्रा में संकल्प तथा स्थिरता की आवश्यकता होती है जिसका इन लोगों में प्रायः अभाव पाया जाता है। संगठन के लाभों से उन्हें कभी परिचित कराया ही नहीं गया।

निर्धन और असंगठित श्रमिकों का एक बड़ा अंश स्वोद्यमी नर-नारियां हैं। इनमें सब्जी-विक्रेता, फेरी लगाकर फल बेचने वाले, दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले वे श्रमिक हैं जो प्रतिदिन सवेरे इस आशा में बाजारों और बस-अड्डों के समीप इकट्ठे होते हैं कि कोई उन्हें दिन भर के लिए काम पर ले जायेगा, कचरे में से चिथड़े, रद्दी कागज और प्लास्टिक की थैलियां बीनने-बटोरने वाले, हाथ-ठेला खींचने वाले, अपने-अपने घरों पर कपडे की छपाई करने वाले, बीड़ी बनाने वाले, घरेलू नौकर, फूल-विक्रेता, सड़कों के किनारे पटरियों पर बैठने वाले मोर्चा, तथा इसी प्रकार के हजारों नर-नारी जिन्हें हम शहरों और कस्बों में प्रतिदिन देखते हैं, तथापि जिनकी दयनीय स्थिति हमारे चित्त को तनिक भी विचलित नहीं करती। इन नर-नारियों की आय निश्चित नहीं होती। वे कभी हाथ-ठेला खींचने जैसा कठोर परिश्रम-साध्य कार्य करने को बाध्य होते हैं और कभी किसी व्यापारी के लिए ठेके पर कोई वस्तु तैयार करने लगते हैं।

व्यापारी प्रायः महाजन भी होता है अर्थात् वह ब्याज पर कर्ज देता है। इन श्रमिकों के काम के घंटे अनिश्चित होते हैं और इनकी आय भी अनिश्चित होती है। न तो उनके और महाजन के बीच किसी प्रकार के व्यापारिक संबंध होते हैं, न उन्हें श्रमिक-कानूनों का संरक्षण ही मिल पाता है। वे प्रायः व्यापारियों की दया पर निर्भर रहते हैं, जो उनके स्वामी बन जाते हैं। उन दोनों के बीच शोषक-मध्यस्थों का एक भरपूर जाल बिछा रहता है जिसके कारण श्रमिकों और व्यापारियों के बीच सीधा संपर्क स्थापित नहीं हो जाता। बड़े शहरों के कुछ श्रमिकों को पुलिस तथा अन्य सरकारी अधिकारियों एवं कर्मियों के हाथों परेशानी उठानी पड़ती है। उनसे प्रायः लाइसेंस दिखाने को कहा जाता है, परंतु उनके

पास तो लाइसेंस होता ही नहीं, अथवा उन्हें सड़कों के किनारे बनी उन पटरियों पर से इस बहाने हटाने की धमकी दी जाती है कि उनके कारण यातायात में बाधा पड़ रही है।

स्व-उद्यमियों में एक बड़ी संख्या नारियों की है जो पुरुषों की ही भांति न तो परस्पर मिल पाती हैं, न संगठित हो पाती हैं। इसके अतिरिक्त उनका नारीत्व स्वयं में उनके मार्ग की एक अतिरिक्त बाधा बन जाता है। ये नारियां बहुत तंगी में जीवन बिताती और काम करती हैं। इसके साथ ही अशिक्षित होने के कारण वे बातों को पूरी तरह समझ नहीं पातीं। उन्हें पैसे की तंगी हमेशा बनी रहती है जो उन्हें अनिवार्यतया उन महाजनों की शरण में जाने के लिए विवश करती है, जिनमें शोषण करने की अद्भुत और अद्वितीय प्रतिभा होती है। इसी आवश्यकता के कारण वे महाजन को अपना दाता मानकर उसके प्रति कृतज्ञ बनी रहती हैं। अपने जीवन-संघर्ष में उन्हें अपने परिवारों से प्रायः कोई सहायता नहीं मिल पाती तथा कोई अन्य सहारा भी दिखायी नहीं पड़ता। उनका संघर्ष नितांत एकाकी संघर्ष होता है।

इलाबेन का चित्त अहमदाबाद शहर की हाथ-ठेला खींचने वाली महिलाओं की दुर्दशा देखकर विचलित हो उठा। ये महिलाएं पड़ोसी राज्यों, विशेषतया राजस्थान और महाराष्ट्र से रोजी-रोटी कमाने के लिए वहां आती हैं। लंबी और हृष्ट-पुष्ट होने के कारण वे अनाज, सब्जी, घरेलू फर्नीचर, इस्पात, धातु, कबाड़, रद्दी कागज, संदूक, डिब्बे इत्यादि विविध प्रकार की सामग्रियों से लदे हाथ-ठेले शहर के भीतर पांच किलोमीटर की दूरी तक खींचकर ले जाती हैं। दिन ढलने पर वे पूरी तरह थक जाती हैं और यदि एक दिन के लिए भी बीमार पड़ जायें तो अगले दिन उनके भोजन का ठिकाना नहीं होता। सुनने में यह बात अविश्वसनीय प्रतीत होती है किंतु सत्य यह है कि प्रसव के बाद सातवें दिन ये महिलाएं अपने शिशु को कपड़े के एक वैसे झूले में डालकर काम पर लौट आती हैं जिसे सामान्यतया गाड़ी अथवा ठेले के नीचे लटका दिया जाता है।

इलाबेन ने सोचा : 'क्या वे इसी तरह अमानवीय दशाओं में परिश्रम करती रहेंगी? क्या उनकी स्थिति सुधारने के लिए कुछ किया जा सकता है?' और इलाबेन ने अकेले ही शुरू करके कुछ ऐसी समर्पित और उच्च-शिक्षा संपन्न युवतियों को संगठित कर लिया जो किसी भी पुरस्कार की कामना किये बिना एक श्रेष्ठ प्रयोजन की सिद्धि के लिए कार्य करने को उद्यत थीं।

उन्होंने सन् 1969 में अहमदाबाद में स्वाश्रयी महिला सेवा संघ (सेवा) की स्थापना की।

इसके बाद उन्होंने स्व-उद्यमी नारियों से मिलना जुलना शुरू किया — अकेले-अकेले और समूहों में भी। सामूहिक सभाओं में इन महिलाओं को अपनी स्थिति की उन्मुक्त अभिव्यक्ति के लिये प्रोत्साहित किया गया। उन सबने अपनी समस्याओं का

समाधान सामूहिक तौर पर खोजने की चेष्टा की।

समस्याएं सचमुच अनेक और जटिल थीं, परंतु इलाबेन और संगठन-कर्ताओं की उनकी टीम ने इन महिलाओं की बात धैर्यपूर्वक सुनी तथा उनके घरों पर उनसे भेंट करके उनके दैनंदिन जीवन को समीप से जानने-समझने का प्रयास किया। अंततः वे उनकी समस्याओं को समझने में सफल रहीं तथा व्यवस्थित ढंग से उनके समाधान खोजने में जुट गयीं।

उनकी अनेक समस्याएं थीं : घोर दरिद्रता, अशिक्षा, जानकारी तथा कार्यकुशलता का अभाव। अकुशल नारी-श्रमिकों द्वारा चलाये जाने वाले परंपरागत धंधों में कमाई प्रायः बहुत कम होती थी। प्रायः अर्ध-कुशल एवं कुशल धंधों में पुरुष लगे हुए हैं तथा वे उनसे अधिक कमाते हैं। इसके कारण नारियों की अपने लिए अधिक कमाई वाले धंधे प्राप्त करने तथा अपनी कार्य-कुशलता में सुधार की संभावनाएं समाप्तप्राय हो जाती हैं। इससे उनके आर्थिक विकास में ठहराव आ जाता है। जहां वे उन वस्तुओं का उत्पादन करती हैं जिनकी आपूर्ति एक ही व्यापारी अथवा मालिक को दी जाती है, वहां उनका भयंकर शोषण होता है। उनके उत्पाद के प्रति नग भाव बहुत कम रखे जाते हैं तथा स्वयं व्यापारी द्वारा दिये गये कच्चे माल का दाम ऊंचा रखा जाता है। इतना ही नहीं, समग्र उत्पाद का एक अंश लेने से मनमाने तौर पर इंकार कर दिया जाता है। वे महिलाएं खुले बाजार की प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाते हुए कच्चा माल उचित अथवा सस्ती दरों पर नहीं खरीद पातीं। कच्चे माल से हमारा तात्पर्य निर्माण-सामग्री से है जैसे कि टोकरी बुनने के लिए बांस, बीड़ी बनाने के लिए तेंदू पत्ता और तंबाकू, छपाई के लिए रंग, रजाइयां बनाने के लिए कपड़ा मिलों की छीजन, तथा गुड़िया बनाने के लिए चिथड़े। विविध वस्तुओं का निर्माण करने वाली इन महिलाओं के पास अपने घरों को छोड़कर कोई अन्य स्थान नहीं होता और घर भी केवल एक कमरे का, साथ ही असुविधाजनक भी।

उन्हें इस विषय में बहुत कम जानकारी रहती है कि अपने उत्पाद अथवा अपनी सेवाओं से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए उनका किस प्रकार इस्तेमाल करना चाहिए। इसके दो प्रमुख कारण होते हैं : पहला कारण तो यह कि वे उत्पादन अथवा सेवाएं बेचने के लिए अधिक लाभदायी अवसरों अथवा ग्राहकों की प्रतीक्षा पर समय नहीं गंवा सकतीं क्योंकि उन्हें बिक्री प्रतिदिन करनी होती है अन्यथा वे भूखों मर जायेंगी, और दूसरा कारण यह कि माल की ढुलाई तथा भंडारण की कठिनाइयों के कारण वे दूर-दराज के बाजारों तक पहुंच ही नहीं पातीं।

इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक तत्व तथा पारिवारिक दायित्व भी उनके कार्य में बाधक बन जाते हैं। कार्यशील नारियों को अपने काम में व्यस्तता के समय अपने बच्चों की देखभाल के लिए एक समर्थ सहारे की आवश्यकता होती है। यह सहारा उन्हें शिशुगृहों

से मिल सकता है जहां उनके शिशुओं को प्रशिक्षित और कार्यक्षम व्यक्तियों के संरक्षण में छोड़ा जा सके। इस प्रकार के शिशुगृह उन्हें उपलब्ध ही नहीं होते। इस कारण वे उन्हें काम पर भी साथ रखने अथवा उनकी उपेक्षा करने – इन दोनों में से एक उपाय अपनाने को बाध्य होती हैं।

पुरुषों का मदिरापान जैसा गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार परिवार में गंभीर उत्पात पैदा कर देता है। भारत की अनेक सामाजिक प्रथाएं बेहूदा और दमनकारी हैं, किंतु युवा पीढ़ी में भी बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उन परिपाटियों के विरुद्ध विद्रोह का साहस करें। इन प्रथाओं के फलस्वरूप नारियों को प्रायः अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। जब आहार-सामग्री महंगी हो और परिवार के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तब घर की नारी के लिए, जो परंपरावश सबसे अंत में खाने को बैठती है, सबसे कम और कभी-कभी नगण्य भोजन बच पाता है। इस प्रकार कुपोषण और कठोर परिश्रम मिलकर उन्हें अस्वस्थ कर देते हैं।

शहरों की गंदी बस्तियों में रहने वाली महिलाओं को उन बस्तियों के दादा लोग तथा अन्य गुंडे परेशान करते हैं। भारत में जातिप्रथा अभी तक बहुत प्रबल है और निचली मानी गयी जातियों की स्त्रियों को जातिगत पक्षपात के कारण अधिक लाभदायक काम नहीं मिल पाता। पानी और ईंधन ढोकर लाना प्रायः भारतीय नारी का दायित्व मान लिया गया है जिसके कारण उन पर और अधिक भार पड़ जाता है। बीमार होने पर उन्हें समुचित चिकित्सा नहीं मिल पाती तथा गर्भवती होने पर उनकी निरंतर देखभाल नहीं हो पाती। उनके विषय में ठीक ही कहा गया है कि वे "निर्धन, निर्बल और प्रायः गर्भवती" रहती हैं।

समस्याओं का निरूपण हो जाने के पश्चात् 'सेवा' ने काम की रणनीति बनानी शुरू की। उसने नारी-समस्याओं का विलेषण इस प्रकार किया : कुछ समस्याएं समूची नारी जाति की हैं जो एक समान हैं, कुछ लेकिन कुछ समस्याएं विशिष्ट कामों में लगी नारियों के छोटे-छोटे समूहों की अलग से हैं। 'सेवा' के अंतर्गत प्रत्येक समूह से कहा गया कि वह अपनी मूलभूत समस्याओं पर काम शुरू करे। प्रथम चरण के रूप में, 'सेवा' के नेताओं तथा महिलाओं के समूहों के बीच सतत संवाद तथा प्रतिबद्धता के द्वारा विश्वास के सेतु का निर्माण किया गया। विश्वास स्थापित हो जाने पर उन महिलाओं के मन में समस्त कठिनाइयों और बाधाओं को झेलने के लिए आवश्यक इच्छाशक्ति का उदय हुआ।

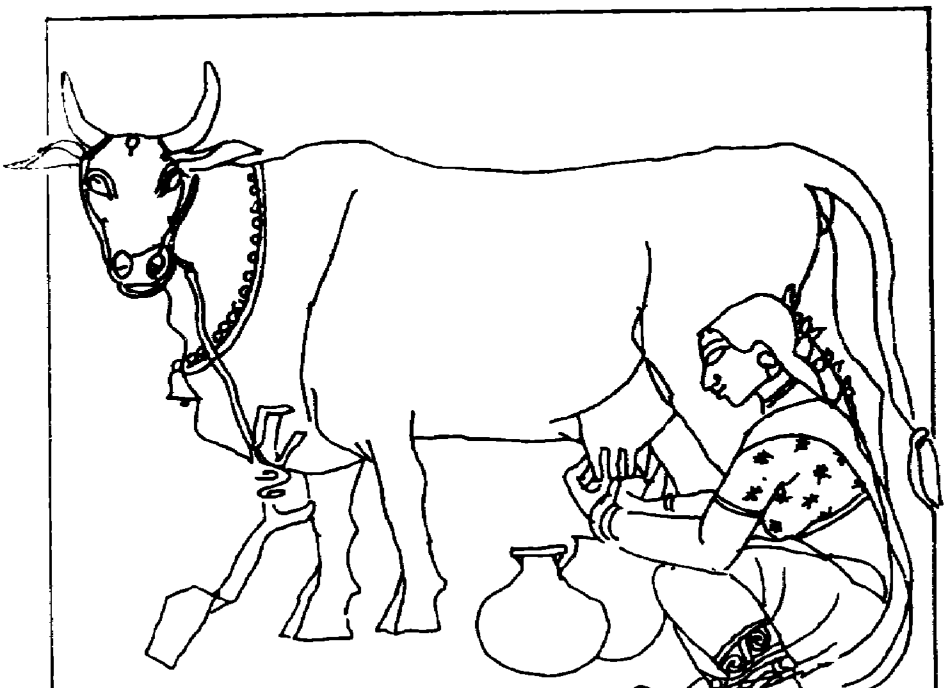
सेवा की मूलभूत रणनीति यह है कि महिलाओं को एक संयुक्त संघर्ष के लिए संगठित किया जाये। इससे महाजनों, स्थानीय झोपड़पट्टियों के अवैध अधिपतियों, बड़े व्यापारियों अथवा छुटभैये राजनीतिज्ञों के हितों को ठेस पहुंचना स्वाभाविक है। कभी-कभी सार्वजनिक अभिकरण भी ऐसे संगठित समूहों के प्रति वैरभाव पालने लगते हैं। ऐसी स्थिति

में संगठित समूह को आर्थिक चुनौती का सामना करने के लिए कोई प्रभावशाली उपाय खोजना पड़ता है। बहुधा यह समाधान स्वतः एक सहकारी संस्था की संरचना के रूप में उभर कर आता है। यदि प्रतिकूल व्यापारी उधार देना बंद कर दे तो समाधान स्वतः समझ में आ जाता है – सहकारी बैंक का गठन।

आंदोलन के नेता समस्याओं में कहां तक हाथ डालते रहेंगे? यदि ये महिलाएं नेताओं का मुंह जोहती रहीं तो आंदोलन का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो सकता है। समूह के सदस्यों को अपनी सम्मिलित समस्याएं मिल-जुलकर स्वयं हल करने और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए अपने भीतर आत्मविश्वास जगाना होगा। वर्षों पूर्व जब महात्मा गांधी ने यह आग्रह किया था कि उनकी स्वर्गीया धर्मपत्नी कस्तूरबा की स्मृति में एकत्र एक विशाल कोष का प्रबंध महिलाओं को अकेले ही करना चाहिए तब उन्हें कहा गया था कि, "महिलाओं को इस प्रकार के कोष के प्रबंध का अनुभव नहीं है, वे भूलें कर बैठेंगी।" इस पर गांधीजी ने दृढ़तापूर्वक कहा था, "उन्हें भूलें करने दो।" 'सेवा' की नेताओं ने भी यही सिद्धांत अपनाया, "उन्हें भूलें करने दो। उन्हें सीखने और स्वतंत्र होने दो।"

समूचे स्व-उद्यमी वर्ग में वे लोग हैं जो स्वतंत्र ढंग से काम कर रहे हैं। उनमें सामूहिक बल नहीं है, अतः वे स्थानीय संस्थाओं, यथा पंचायतों, नगरपालिकाओं एवं राज्य सरकारों के निर्णयों को प्रभावित नहीं कर पाते। तथापि, यदि स्व-उद्यमी नारियां इन संस्थाओं को अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करना चाहती हैं तो उन्हें एक ऐसे प्रभाव-केंद्र अथवा दबाव-समूह का रूप धारण करना होगा जो उनकी नीतियों को प्रभावित कर सके। यह तभी संभव है जब नेतृत्व इन स्व-उद्यमी नारियों में से ही उभर कर आये। यह सही है कि आरंभ में उन्हें बाहर के लोगों से इस सहायता की अपेक्षा रहेगी कि वे उनमें बल और आत्मविश्वास का संचार करें। बाहर से प्रेरणा और बल पहुंचाने वाले लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे असंगठित नारी-श्रमिकों की सीमाओं और आशंकाओं के प्रति संवदेनशील रहें, उनके मन में अपने प्रयोजनों पर आस्था हो तथा उनमें निहित स्वार्थों का सामना करने का साहस हो। इससे भी परे, वे सरकारी सहायता के लिए धैर्य से प्रतीक्षा करने को तैयार हों क्योंकि वह वर्षों के दीर्घ संघर्ष तथा श्रमिकों की संगठित शक्ति के प्रदर्शन के पश्चात् प्राप्त होती है। इसे प्रायः नियम ही माना जाये कि इस प्रकार का बाहरी नेतृत्व शहरी उच्च वर्ग की उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएं ही प्रदान कर सकती हैं, किंतु उन्हें यह सिद्ध करना सीखना होगा कि वे अशिक्षित निर्धन नारियों के लिए न्याय प्राप्त करने का प्रयास करते समय उन्हें समान स्तर पर स्वीकार करने को तत्पर हैं। उनमें सीखने और धैर्यपूर्वक सुनने के साथ-साथ कुछ समय बाद मैदान छोड़कर भाग जाने के बजाय कठिनाइयां झेलने तथा आत्मनिर्भर संगठन के निर्माण का लक्ष्य प्राप्त हो जाने तक मैदान में डटे रहकर काम करते रहने की सामर्थ्य और दृढ़





(ऊपर) बीड़ी बनाने के कमर-तोड़ काम में लगी महिलाएं।

(नीचे) एक दूधारू गाय सहकारी संस्था की सदस्य महिला के जीवन-यापन का स्रोत बन सकती है।



(ऊपर) अपनी कमाई से महिला अपना खुद का बैंक खाता खोलते हुए।

(नीचे) आत्मनिर्भर बनने के लिए सब्जी बेचती हुई महिलाएं।

इच्छाशक्ति होनी चाहिए।

'सेवा' की शुरुआत अहमदाबाद नगर में एक शहरी संगठन के रूप में हुई थी, परंतु उसके संदेश तथा कार्यकलाप का दूर-दूर तक विस्तार अपरिहार्य था।

महिलाओं के प्रारंभिक संघर्षों में एक संघर्ष निम्नवर्ग के पुरुषों द्वारा पी जाने वाली बीड़ियां लपेटने वाली नारियों का संघर्ष था। बीड़ी का निर्माण तेंदू वृक्ष की सूखी पत्ती से होता है जिसके बीच में निम्नस्तर का तंबाकू रखकर उसे गोल लपेटकर उसके एक सिरे पर धागा बांध दिया जाता है जिससे कि वह खुलने न पाये। इस कार्य में किसी विशेष प्रकार के कौशल की आवश्यकता नहीं होती तथा उसकी समूची प्रक्रिया महिलाएं अपने अपने घर पर ही संपन्न कर लेती हैं। वे व्यापारियों से पत्तियां और तंबाकू थोक में ले जाती हैं तथा थोड़े-थोड़े दिनों बाद हजारों की संख्या में तैयार बीड़ियां उसे थमा देती हैं। व्यापारी उन महिलाओं को औपचारिक दृष्टि से मजदूर के रूप में काम पर नहीं लगाता, बल्कि उन्हें प्रति हजार बीड़ियों के लिए निर्धारित दर से भुगतान करता है। कभी-कभी वह इन महिला श्रमिकों द्वारा जमा कराये गये बंडलों के कुछ भाग को निराधार बहाने बनाकर अस्वीकार कर देता है और बाद में उन्हें ही कम भाव पर ले लेता है। महिलाएं यह कार्य अपने-अपने घर पर करती है, जहां उनके कपड़े-लत्ते और बर्तन रखने भर के लिए ही स्थान रहता है। तंबाकू जब घर में खुला पड़ा होता है तब घर के छोटे बच्चे उसकी पत्तियां उठाकर चूसने की गंदी आदत डाल लेते हैं। तंबाकू का सेवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है किंतु ये बच्चे इस प्रकार उसके शिकार हो जाते हैं।

बीड़ी उद्योग हजारों छोटे-छोटे घरों और झोपड़ियों में विकेंद्रित होने के बावजूद एक भारी मुनाफा कमाने वाला उद्योग है। भारत में बीड़ी बनाने के कुछ ऐसे कारखाने भी लग गये हैं जिनमें बहुत से स्त्री-पुरुष एक ही परिसर में कार्य करते हैं तथापि यह उद्योग बुनियादी तौर पर एक विकेंद्रित उद्योग ही है। गुजरात में यह उद्योग बड़े पैमाने पर अहमदाबाद शहर में केंद्रित है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नगरों तथा ग्रामों में भी इस उद्योग के कुछ छोटे-छोटे केंद्र काम कर रहे हैं। गुजरात में अनेक जातियों की महिलाएं बीड़ी लपेटने का व्यवसाय करती हैं। उनका एक समूह पद्मशाली जाति की स्त्रियां का है जो मूलतः आंध्रप्रदेश से उठकर गुजरात में आ बसा है। ये महिलाएं अनेक दशाब्दियों से यह कार्य कर रही हैं। एक अन्य समूह मुस्लिम स्त्रियों का है जो मुख्यतया अहमदाबाद और उसके आसपास के छोटे-छोटे कस्बों – विशेषतया पाटन में केंद्रित है। एक तीसरा समूह कोष्टी स्त्रियों का है। शहरी स्त्रियां चालों में रहती हैं तथा प्रायः उनके पति और पिता औद्योगिक श्रमिक हैं। अनेक विधवा अथवा परित्यक्ता महिलाएं अपने परिवारों की मुखिया हैं, तथा उनके परिवारों का भरण-पोषण उनकी कमाई से ही होता है।

भारत सरकार ने इन महिलाओं को एक निश्चित न्यूनतम मजदूरी तथा निःशुल्क

चिकित्सा सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से कानून बनाये, परंतु व्यापारी मजबूती से संगठित थे तथा उन्होंने इस प्रकार की कानूनी व्यवस्थाओं से बच निकलने के मार्ग खोज निकाले। 'सेवा' कार्यकर्ताओं में से रेनाना झाबवाला नामक युवा एवं दृढ़ निश्चयी महिला ने पहले इस समस्या का अध्ययन किया तथा उसके बाद उन महिलाओं को अपने वैधानिक अधिकारों की मांग के लिए संगठित किया। इस प्रकार के संघर्षों में व्यापारी पहले तो बेहूदा भाषा के प्रयोग का सहारा लेते हैं, तत्पश्चात् बदला लेने और अपमानित करने पर उतारू हो जाते हैं। उन महिलाओं ने अपनी शक्ति पर भरोसा रखकर उस सबका धैर्यपूर्वक सामना किया। 1971-72 में महिला बीड़ी श्रमिकों का वह आंदोलन सफल रहा, तथा बाद में वह आंदोलन भारत के अन्य भागों में इसी प्रकार के संघर्ष के लिए आदर्श बन गया।

सन् 1974 में एक अन्य संघर्ष हुआ। वह अहमदाबाद की उन मुस्लिम महिलाओं का संघर्ष था जो कपड़ा मिलों से निकलने वाले कटे-फटे कपड़े के टुकड़ों से रजाइयां और बच्चों के परिधान तैयार करती थीं। अहमदाबाद की कपड़ा मिलों से निकलने वाले इस प्रकार के टुकड़े रूमाल से अधिक बड़े आकार के नहीं होते। इन्हें स्थानीय लोग चिंदी कहते हैं। आकार के आधार पर ये चिंदियां बड़े, मध्यम और छोटे आकार की होती हैं। इसके बाद भी उन्हें तीन अन्य श्रेणियों में रखा जाता है : स्वच्छ, गंदी और बहुत गंदी।

चिंदियों का इस्तेमाल दो कामों में किया जाता है — बड़ी चिंदियों को जोड़कर बच्चों के सस्ते परिधान तैयार किये जाते हैं, तथा छोटी चिंदियों को तकियों और गद्दों में भर दिया जाता है।

मालदार व्यापारियों ने इन चिंदियों को थोक खरीद की एक एकाधिकारपूर्ण व्यवस्था का निर्माण कर लिया था। वे उन चिंदियों को महिलाओं में बांट देते जो अपने तंग घरों के भीतर अपर्याप्त रोशनी में उनसे परिधान और रजाइयां आदि तैयार करतीं तथा तैयार माल व्यापारियों को लौटा देतीं जो उन्हें मामूली सी मजदूरी चुकाते। उन महिलाओं को तो थोड़ा सा पारिश्रमिक मिल पाता था, परंतु व्यापारी भारी मुनाफा कमाकर दिनों-दिन मालदार होते जाते थे।

इन महिलाओं की समस्या का हल एक सहकारी समिति का गठन था। 'सेवा' की नेताओं ने उनसे कहा, "तुम मिलकर सहकारी समिति क्यों नहीं बना लेतीं? उस स्थिति में तुम्हारी सहकारी समिति कपड़ा मिलों से सीधे ही चिंदियां खरीद कर तुम्हें दे देगी और तुम उनसे वस्त्र तथा रजाइयां आदि तैयार करके उन्हें सहकारी समिति की दुकानों के मार्फत बेच सकोगी।" उन महिलाओं ने इस योजना को उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया लेकिन उन्हें शीघ्र ही एक झटका लगा। कपड़ा मिलों में चिंदियां बेचने वाले लोगों पर चिंदियों के व्यापारियों की ऐसी मजबूत पकड़ थी कि उन महिलाओं को चिंदियां बिल्कुल ही न

मिल पायीं। तथापि, महिलाएं अपने निर्णय पर डटी रहीं और अंततः व्यापारियों का हठ टूट गया। आगे की मंजिल ज्यादा कठिन न थी। इसके बावजूद उन महिलाओं को बहुत कुछ नया सीखना पड़ा – हिसाब-किताब, चिंदियों का वितरण, तथा सहकारी खुदरा दुकान का संचालन। परंतु वे सीखने को तत्पर थीं और उन्होंने वह सब सीखा। उन महिलाओं के संगठन का काम अभी तक जारी है।

इसके दो वर्ष बाद उन महिलाओं को संघर्ष के लिए तैयार किया गया जो सूती कपड़ों पर ठप्पों से छपाई करती थीं। उनके शोषण की कहानी भी ऐसी ही थी। कपड़ा, लकड़ी के ठप्पे, रंगों के मिश्रण आदि सारा सामान व्यापारी देता था और उनके रहस्य गोपनीय रखता था। इन महिलाओं को पूर्व-निश्चित डिजायनों के अनुसार सूती कपड़े पर छपाई करके समूचा उत्पाद व्यापारी को लौटाना होता था। छपा हुआ कपड़ा पलंग की चादरें, पर्दे तथा तकिये के गिलाफ आदि सामग्री बनाने के काम आता था। इन महिलाओं की मजदूरी की दरें बहुत कम थीं और उन्हें अपने तंग तथा आधी-अधूरी रोशनी वाले घरों में ही यह काम करना पड़ता था। 'सेवा' की प्रेरणा से इन महिलाओं ने एक सहकारी समिति के गठन का निश्चय किया। उन्होंने कपड़ा तथा लकड़ी के ठप्पे खरीद लिये तथा धैर्यपूर्वक रंगों के निर्माण-सूत्रों का भी पता लगा लिया। आज यह काम करने वाली अधिकांश महिलाएं सहकारी समितियों में संगठित होकर कार्य कर रही हैं तथा जो उनमें सम्मिलित नहीं हुईं उनके प्रति व्यापारी भी अब अच्छा व्यवहार करने लगे हैं।

इन तीनों संघर्षों में विजय आसानी से प्राप्त नहीं हुई। अनेक महिलाओं को धमकियों और अत्याचार का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछ तो उस दबाव के समक्ष झुक गयीं। उनमें से कुछ महिलाओं के पतियों और पिताओं ने जुलूसों और सार्वजनिक सभाओं में अपने परिवार की स्त्रियों के सम्मिलित होने पर कड़ी आपत्ति की। सहकारी समिति का गठन तो आसान था, परंतु उसका संचालन उतना आसान न था। वे महिलाएं न तो हिसाब-किताब करना जानती थीं, न व्यावसायिक लेन-देन के बारे में ही उन्हें कोई ज्ञान अथवा अनुभव था। सरकारी अधिकारियों और पुलिस सरीखे लोगों के साथ व्यवहार में भी बहुत कठिनाई आती थी। यदि हाथ-ठेला खींचने वाली महिलाएं हाथ-ठेला खरीदना चाहतीं तो उन्हें उसे चलाने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था जिसके लिए उन्हें पुलिस के पास जाना होता था, जिससे वे डरती थीं। सहकारी समिति के हिसाब-किताब का लेखा-परीक्षण तथा अधिकारियों द्वारा उसका प्रमाणीकरण अनिवार्य होता था। यदि पुलिस उनके विरुद्ध कोई मामला दर्ज कर लेती तो उन्हें अदालत में जाना पड़ता जिसकी प्रक्रियाएं और हर कदम पर लगने वाली देरी उन्हें परेशान कर देती थी। ये बैंकिंग-प्रणाली अथवा वाणिज्यिक जगत की बारीकियों को तनिक भी नहीं समझती थीं। इस सबको सीखने की प्रक्रिया बहुत धीमी रही। उन्होंने अनेक बार ठोकर खायी, मगर वे गिरी नहीं।

उसके बाद अहमदाबाद नगर में सब्जी बेचने वालों का महासंघर्ष उठा। घूमकर तथा दूर-दूर तक टहलकर माल बेचने वालों अर्थात् फेरी वालों से एकदम विपरीत थड़ी वाले ये लोग सड़कों के किनारे पटरियों पर एक ही स्थान पर बैठकर अपना माल बेचते थे। बड़े शहरों में थड़ी वालों का दृश्य एक आम बात है। सब्जी-बाजारों में जगह की तंगी और भाड़े की ऊंची दरों के कारण ये लोग उनमें दुकानें अथवा थड़ियां नहीं ले सकते।

एक ओर आर्थिक विवशता तथा दूसरी ओर जगह की तंगी के कारण बहुत से स्त्री-पुरुष पटरियों, सड़कों के कोनों, रेलवे प्लेटफार्मों, समुद्रतट पर फैली रेत पर तथा सार्वजनिक उद्यानों तक में थड़ी लगाकर अपना माल बेचने लगते हैं। इन थड़ी वालों को प्रायः छोटे पुलिसकर्मी तंग किया करते थे। वे उनसे घूस मांगते, बेहूदे ढंग से बोलते तथा हमेशा उनके साथ दुर्व्यवहार करते। अचानक एक दिन नगर के अधिकारियों ने निश्चय कर लिया कि ये महिलाएं गाड़ियों और पैदल मुसाफिरों के आवागमन में बाधा पहुंच रही हैं, अतः उन्हें वहां से हटा दिया जाना चाहिए। लेकिन वे वहां से जाती कहां? उन्होंने 'सेवा' से संपर्क स्थापित किया। 'सेवा' ने उन्हें संगठित किया और इस तरह संघर्ष शुरू हो गया।

नगर के अधिकारी सोच रहे थे कि उन्हें हटाना आसान होगा, परंतु जब उन्होंने संगठित होकर उनकी कार्यवाही का प्रतिरोध किया तो वे चकित रह गये। 'सेवा' ने पहले तो उन महिलाओं की स्थिति संबंधित अधिकारियों के समक्ष रखी। उन्हें बताया गया कि वे गरीब होने के बावजूद समाज को एक अनिवार्य सेवा प्रदान कर रही थीं। वे ऐसे स्थान पर बैठती थीं जहां खरीदारों के लिए भारी संख्या में पहुंचना सुगम था। उनको वहां से हटाने से उनके ग्राहकों के हितों की हानि पहुंचना तथा इन महिलाओं का व्यापार नष्ट होना अवश्यंभावी था। 'सेवा' की ओर से उन्हें यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि यदि उन महिलाओं को मुनासिब भाड़े पर नियमित सब्जी-बाजार में थड़ियां उपलब्ध करा दी जायें तो वे अपना व्यापार स्वेच्छा से वहां ले जायेंगी। नगर-अधिकारियों ने यह वचन नहीं दिया। उन्होंने अस्पष्ट शब्दों में केवल इतना कहा, "हम इस बारे में विचार करेंगे।" उन महिलाओं ने सहजता से दिया गया यह अर्थहीन आश्वासन स्वीकार करने से इंकार कर दिया। 'सेवा' संघ इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय तक ले गया और वह विजयी रहा। सर्वोच्च न्यायालय अधिकारियों को आदेश दिया कि जब तक उन महिला विक्रेताओं को नियमित बाजार में वैकल्पिक स्थान नहीं दिया जाता तब तक वे उन्हें वहां से न हटायें।

गुजरात के शहरी क्षेत्रों में काफी मात्रा में काम कर लेने के पश्चात् 'सेवा' ने अपना कामकाज देहाती क्षेत्रों में भी फैलाना शुरू कर दिया। देवा धौलेरा गांव में महिलाएं सादा झाड़ू और सस्ती टोकरियां बनाती थीं। उनके पास अपने कौशल को निखारने का कोई साधन न था। 'सेवा' ने इस कार्य के लिए उत्तर-पूर्व भारत से कुशल कारीगर बुलाने की एक साहसपूर्ण योजना तैयार की। इसका परिणाम यह निकला कि वे शीघ्र ही बांस

की सजावटी वस्तुएं, जैसे कि लैंप-शेड तथा अन्य आकर्षक वस्तुएं बनाना सीख गयीं जिनसे अच्छी आमदनी होने लगी।

डेरी उद्योग का सदा से पुरुषों का कार्यक्षेत्र माना गया है। हालांकि परंपरा से पशुओं से संबंधित समस्त कार्यकलाप महिलाओं के जिम्मे रहा है, लेकिन डेरी उत्पादों का मुनाफा पुरुषों की जेब में जाता रहा है। गुजरात की डेरी सहकारी समितियों में केवल पुरुष-सदस्य थे। इसे एक ध्रुव सत्य मान लिया गया था कि महिलाएं दुग्ध सहकारी समिति नहीं चला सकतीं। 'सेवा' ने इस मिथक पर प्रहार करने में पहल की तथा वह ग्रामीण महिला डेरी सहकारी समितियों के गठन में सफल रहा।

मानसून की बार-बार पड़ने वाली कोपदृष्टि के कारण गुजरात राज्य में घोर अकाल पड़ते हैं। सन् 1984 से 1988 तक लगातार चार वर्ष उत्तरी और पश्चिमी गुजरात के काफी बड़े क्षेत्र पर्याप्त वर्षा से वंचित रहे। इस चार-वर्षीय अकाल को इस शताब्दी का भीषणतम अकाल माना गया है। ऐसे सँकट के समय गरीबों को सबसे अधिक कष्ट सहना पड़ता है क्योंकि कृषि मजदूर होने के नाते उनकी आजीविका इस बात पर निर्भर करती है कि उन्हें खेती का काम उपलब्ध हो। उनके पास आय का कोई अन्य स्रोत नहीं होता। जलहीन तथा धूप से तपे हुए खेतों पर कोई काम न था। ऐसी स्थिति में ये हताश परिवार कस्बों और शहरों की ओर पलायन कर जाते हैं, सड़कों के किनारे बनी पटरियों पर, तंग गंदी बस्तियों में, सार्वजनिक उद्यानों में, पुलों के नीचे अथवा रेलवे प्लेटफार्मों पर पड़े रहने के लिए विवश हो जाते हैं। इनके मन में आशा लगी रहती है कि दिन बदलें तो वे अपने गांव लौटें, और जब इसकी पूर्ति का कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता तो अनेक ग्रामीण परिवार गांवों से हमेशा के लिए उजड़-उखड़कर शहरों में निर्धनता में जीने के लिए विवश हो जाते हैं। पहले से ही भीड़ भरे शहरों में इन लोगों का आगमन शहरी जीवन को पूरी तरह अस्त-व्यस्त कर डालता है। शहर बीमार होकर बिखरने लगते हैं। इन साधनहीन तथा किंकर्तव्यविमूढ़ आगंतुकों को इन्हीं शहरों में रहना पड़ता है।

'सेवा' ने सूखाग्रस्त क्षेत्रों में काम करने का निश्चय किया। 'सेवा' ने महिलाओं के माध्यम से गांवों में चारे और अनाज का वितरण बड़े पैमाने पर कराया। 'सेवा' ने इस बात पर भी बल दिया कि सूखे के बुनियादी कारणों को स्पष्ट रूप में समझा जाना चाहिए तथा ग्रामीण महिलाओं को इस प्रकार समझाया: "वृक्ष कट रहे हैं, चरागाह बचे ही नहीं, भूमि कठोर पड़ती जा रही है तथा उसकी उर्वरा शक्ति घट रही है। मानसून के विफल हो जाने पर हम महिलाओं को सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। पानी और चारा ढोकर लाने का दुष्कर परिश्रम असहनीय होता जा रहा है।" संदेश स्पष्ट था कि सूखा बार-बार पड़ेगा और समूचा क्षत्र रेगिस्तान बन जायेगा। "आओ हम वृक्ष, झाड़ियां और तरह-तरह की घास लगायें। हम उनकी रक्षा करें।" 'सेवा' ने महिलाओं को सामाजिक वानिकी

परियोजनाओं की दिशा में बुनियादी मार्गदर्शन और अनिवार्य नेतृत्व प्रदान किया।

'सेवा' में विविध समुदायों की महिलाएं शामिल हैं। सत्तर के दशक के अंतिम तथा अस्सी के दशक के प्रारंभिक वर्षों में गुजरात में सांप्रदायिक हिंसा फूट पड़ी जो मुख्यतया अहमदाबाद शहर तक सीमित थी। इस प्रकार की हिंसा हिंदू और मुस्लिम दोनों संप्रदायों की महिलाओं की जीवनचर्या में व्यवधान डालती है। अतः दोनों संप्रदायों की महिलाओं ने इस सांप्रदायिक उन्माद के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाई का निश्चय किया। इलाबेन के शब्दों में: "महिलाओं ने अपने पतियों और पिताओं को घेर लिया और उनको संयत किया।"

'सेवा' विचारों के आदान-प्रदान, अनुभवों की साझेदारी और सामूहिक चिंतन के महत्व से अवगत है। छोटे-छोटे समूहों में एकत्र होकर महिलाओं द्वारा यथासंभव अधिक से अधिक बार चर्चाओं का आयोजन इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इस प्रकार की मुक्त चर्चाएं महिलाओं को एक-दूसरे के समीप आने, पारस्परिक साख तथा विश्वास और आपस में एक-दूसरे को सहारा देने की वृत्ति के निर्माण के अवसर प्रदान करती हैं। बार-बार होने वाली इस प्रकार की बैठकें, सभाएं और मुक्त चर्चाएं,उनके भीतर एक दीर्घकाल तक जब तक कि वे अपने प्रयोजनों में सफल नहीं हो जातीं, मिलकर काम करने की वृत्ति और योग्यता के विकास की दृष्टि से एक अचूक साधन हैं। इसके अतिरिक्त 'सेवा' संचार के एक अन्य साधन – चलचित्र (वीडियो मूवी) का सहारा लेता है। निपट अशिक्षित महिलाओं को वीडियो उपकरणों के प्रयोग का प्रशिक्षण दिया गया है। वे काम करती हुए महिलाओं, उनकी कार्य-दशाओं तथा समस्याओं, उनकी आशाओं, और संगठन के प्रति उनके दृढ़ निश्चय के चलचित्र खींचती हैं। वीडियो चलचित्रों के माध्यम से किसी भी संदेश का संप्रेषण सुगम हो जाता है।

सेवा' ने समय-समय पर पहाड़ों से ईंधन बटोरने वाली, पतियों द्वारा परित्यक्ता, तथा शालीनता और लज्जा की रक्षा की दृष्टि से अपने लिए शौचालयों की समुचित व्यवस्था की मांग करने वाली महिलाओं के समर्थन में आवाज उठायी। उसने पत्नियों की पिटाई के विरुद्ध अभियान छेड़ा। उसने एक गुजराती पत्रिका 'अनुसूया' का प्रकाशन किया जो अब मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में हिंदी में प्रकाशित होने लगी है। यह पत्रिका सुविधाहीन निर्धन महिलाओं की समस्याओं पर प्रकाश डालती है।

पिछले कुछ वर्षों में 'सेवा' ने हरियाणा, बिहार, मध्यप्रदेश तथा दिल्ली आदि राज्यों में अपनी शाखाएं खोली हैं। अन्य राज्यों में भी उसकी शाखाएं शीघ्र ही खोली जायेंगी।

सुविधाहीन महिलाओं की समस्याएं समूचे भारत में एक सरीखी हैं : उनकी घोर विपन्नता, प्रथाओं-परंपराओं द्वारा महिलाओं पर ढाया जाने वाला जुल्म, पुरुषों की अपेक्षा निम्नतर सामाजिक स्तर और आत्मविश्वास का अभाव। 'सेवा' के कार्य में भविष्य के लिए श्रेष्ठ संभावनाएं निहित हैं। वह समाज-सेवा का एक उत्कृष्ट नमूना है। उसका नेतृत्व करने

वाली महिलाएं निर्धन महिलाओं के बीच काम करती हैं और उन्हें अपनी उन्नति की प्रक्रिया में पूर्णतया क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करती हैं। प्रत्येक बाधा का निवारण साहसपूर्वक किया जाता है तथा उनकी प्रत्येक सफलता को उनका मनोबल ऊंचा उठाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह कभी निष्फल न होने वाली रणनीति है।

'सेवा' महिलाओं का तथा महिलाओं द्वारा चलाया जाने वाला एक पथ प्रदर्शक आंदोलन है। उसने यह पहचाना कि महिलाओं के कार्य का मूल्य आंका ही नहीं गया, उनकी आय पर उनका अपना नियंत्रण नहीं है तथा उन्हें अपने जीवन की दिशा निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। चाहे वे पत्नियां हों, माताएं हों अथवा बेटियां, प्रथाएं-परंपराएं तथा उनके जीवन की स्थितियां उन्हें जीवन भर दूसरों पर निर्भर रहने के लिए विवश करती हैं। उनमें आंतरिक शक्ति तथा जमकर काम करने की क्षमता का अक्षय भंडार है, तथापि समाज उन्हें अबला और असुरक्षित ही मानता है।

'सेवा' ने इस धारणा और स्थिति को बदल डालने की चेष्टा की है। 'सेवा' ने भीरू-कातर, शंकालु-संकोची तथा शक्तिहीन महिलाओं को साहस, आत्मविश्वास और उन्हें अपने जीवन पर नियंत्रण प्रदान किया है। सेवा की सफलता निश्चय ही समूचे समाज को महिलाओं के बारे में उसकी युगों पुरानी धारणाओं में आमूल परिवर्तन करने के लिए विवश करेगी।

5

उपसंहार

"यदि मैं मानव-परिवार के मन में यह आस्था उत्पन्न करने में सफल रहा कि प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री, भले ही वह शरीर से कितना भी निर्बल क्यों न हो, आत्मगौरव तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संरक्षक है, तो मेरा कार्य संपन्न हो जायेगा। यदि समूचा विश्व भी व्यक्तिगत-सत्याग्रही के विरुद्ध खड़ा हो जाये तो भी सत्याग्रही इनकी रक्षा में सफल रहेगा।"

—महात्मा गांधी

देश के तीन भिन्न-भिन्न भागों में उदित ये तीन आंदोलन महात्मा गांधी के चिंतन और कर्म द्वारा प्रेरित स्वैच्छिक कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि संगठित तथा दृढ़निश्चयी समूह चेतना उत्पन्न कर सकते हैं, आत्मविश्वास जागृत कर सकते हैं, बाधाओं को लांघ सकते हैं, तथा जीवन को बेहतर बना सकते हैं। ये उन साधारण लोगों की उपलब्धियों का नमूना पेश करते हैं जिनके पास कोई भी राजनीतिक मंच नहीं होता। देश के सभी भागों में ऐसे ही अनेक छोटे-छोटे आंदोलन उभरे हैं जो छोटे और कम प्रसिद्ध होने के बावजूद महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। ये दर्शाते हैं कि लोग अराजनीतिक स्वैच्छिक कार्यों से क्या कुछ प्राप्त कर सकते हैं। छोटे-छोटे समूहों की ऊर्जस्विता पर निर्भरता इन आंदोलनों की सफलता का एक बड़ा कारण है।

छोटे समूहों की ऊर्जस्विता क्या है?

यह प्रायः एक निर्विवाद तथ्य है कि छोटे समूह बड़े समूहों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से काम कर पाते हैं। छोटे समूहों की स्थिति इस दृष्टि से श्रेष्ठ होती है। एक छोटे समूह का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों में से प्रत्येक को जानता है। उनके बीच घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंध होते हैं। टकराव कम होते हैं तथा टकराव होने पर समझौते झटपट हो जाते हैं। सामूहिक-कार्य में प्रत्येक सदस्य भाग लेता है। प्रत्येक सदस्य अपने काम के प्रति उत्तरदायी होता है तथा धोखाधड़ी विरल ही होती है। छोटा समूह प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् सदस्य में प्रयोजन की चेतना तथा व्यक्तिगत महत्व की भावना जागृत करता

है। छोटे समूह की मूल शक्ति उसके अपने लचीलेपन में निहित होती है। छोटे समूह अपने सदस्यों में स्वतंत्रता की भावना के साथ-साथ समूह के प्रति तथा एक-दूसरे के प्रति लगाव की चेतना उत्पन्न करता है।

इस प्रकार के छोटे समूहों को प्रभावशाली बनाने के लिए सदस्यों के बीच निकट संपर्क, विचारों का आदान-प्रदान, अनुभवों की साझेदारी, एक सुबद्ध संगठन का निर्माण तथा पारस्परिक समर्थन-सहयोग अनिवार्य है। संक्षेप में, इन सदस्यों को सार्वभौमिक ढंग से सोचना होगा और स्थानीय रूप से क्रियाशील होना होगा।

इन आंदोलनों के नेताओं को समझना भी आवश्यक है। वे बुनियादी तौर पर 'बाहर के लोग' हैं। शिक्षित, राजनीतिक दृष्टि से जागरूक, सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न और अपने व्यक्तिगत जीवन में निर्धनता के दबाव से मुक्त होने पर भी ये नेता लोगों को समझते हैं। वे निष्क्रिय लोगों को ऊपर से खैरात बांटने पर विश्वास नहीं करते। वे लोगों को काम में भाग लेने, अपने लिए सोचने और अपने विचारों की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे न उपदेश देते हैं, न लोगों का आह्वान करते हैं; उनकी स्वयं की प्रतिबद्धता तथा उनका पेश किया उदाहरण ही उनका संदेश बनता है। न तो उनमें अनावश्यक रूप से गंभीरता का प्रदर्शन होता है, न दंभ का। उनमें केवल दृढ़ संकल्प तथा आस्था का बल होता है।

मनुष्य की विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में स्वयंसेवक महत्वपूर्ण उपलब्धियों का प्रदर्शन कर सकते हैं। हमारे देश में अनेक छोटे-छोटे समूह रोजगार-विकास और निर्धनता उन्मूलन, विकलांग कल्याण, माता और शिशु की देखभाल कार्यक्रम, गरीबों के लिए आवास, जल प्रबंधन, शहरों की स्वच्छता, पर्यावरण संरक्षण, प्रदूषण निवारण, जनजाति कल्याण, उपभोक्ता संरक्षण, दहेज विरोधी अभियान, सांप्रदायिक सद्भाव, वैज्ञानिक विचारों का प्रसार और अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष, प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, परित्यक्त एवं उपेक्षित बालकों की देखभाल, बाल अपराध, लोक अदालत, मादक द्रव्य और मदिरापान निषेध तथा राष्ट्रीय एकीकरण सरीखे विविध क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं।

समाज सेवा कोई भी व्यक्ति कर सकता है, आवश्यकता केवल सही प्रयोजन की है। ऐसे स्वयंसेवक के लिए यह आवश्यक है कि वह समस्याओं को स्पष्ट रूप से समझे तथा काम के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध हो। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह जिन लोगों के बीच काम करता है, उसे उनका विश्वास प्राप्त करना चाहिए।